[श्री कुन्दकुन्द कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प १४१]

धर्म के दशलक्षण
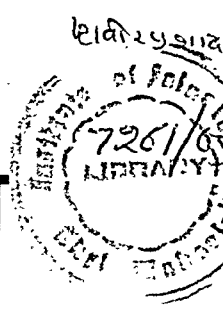
लेखक :

© डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., पीएच.डी.
श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (जिला भावनगर – गुजरात)

प्रथमावृत्ति : १२,०००
दीपमालिका, ३१ अक्टूबर, १९७८ ई०

मूल्य :
साधारण : चार रुपये
सजिल्द : पांच रुपये

प्राप्ति-स्थान :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ ३६४२५० (जिला भावनगर – गुजरात)

पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४ (राजस्थान)

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स
मिर्जा इस्माइल रोड
जयपुर

प्रकाशकीय

दशलक्षण महापर्व ही एकमात्र ऐसा पर्व है जो परमोदात्त भावनाओं का प्ररक, वीतरागता का पोषक तथा संयम व साधना का पर्व है। सम्पूर्ण भारतवर्ष का जैन समाज इसे प्रतिवर्ष बड़े ही उत्साह से मनाता है। दश दिन तक चलने वाले इस महापर्व के अवसर पर अनेक धार्मिक आयोजन होते हैं, जिनमें विद्वानों के उत्तमक्षमादि दशधर्मों पर व्याख्यान भी आयोजित किये जाते हैं। सव जगह सुयोग्य विद्वानों का पहुँच पाना संभव नहीं हो पाता; अतः जैसा गम्भीर व मार्मिक विवेचन उक्त धर्मो का होना चाहिए वैसा सहज संभव नहीं होता है।

इधर विगत चार दशकों से पू० श्री कानजी स्वामी द्वारा जो अध्यात्म की पावन धारा निरन्तर प्रवाहित हो रही है, उसने जैन समाज में एक आध्यात्मिक क्रान्ति पैदा कर दी है। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर लाखों लोग आत्महित की ओर मुड़े हैं, सैंकड़ों आध्यात्मिक प्रवक्ता विद्वान तैयार हुए हैं। जहाँ पूज्य स्वामीजी विराजते हैं, उस जीवन्ततीर्थ सोनगढ़ से प्रतिवर्ष इस अवसर पर शताधिक विद्वान् प्रवचनार्थ वाहर जाते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल भी उन गिने-चुने उच्च कोटि के विद्वानों में से एक हैं, जिन्हें पूज्य स्वामीजी से सन्मार्ग मिला है। दशलक्षण पर्व पर प्रतिवर्ष जहाँ भी वे जाते रहे हैं, वहाँ दशधर्मों पर उनके मार्मिक व्याख्यान होने पर उनसे आबाल-गोपाल सीमातीत प्रभावित होते रहे हैं।

अनेक आग्रहों-अनुरोधों के बावजूद तथा उनका स्वयं का विचार होते हुए भी वे व्याख्यान निवद्ध न हो सके, पर जव अढ़ाई वर्ष पूर्व डॉ० भारिल्लजी के कंधों पर हिन्दी आत्मधर्म के सम्पादन का भार आया तव वे निवद्ध होकर सम्पादकियों के रूप में क्रमशः आत्मधर्म में प्रकाशित हुए। उक्त निवन्धों का निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक मार्मिक विवेचन जब सुवोध, सतर्क तथा आकर्षक शैली में पाठकों तक पहुँचा तो वे झूम उठे। सामान्य पाठकों ने ही नहीं, पूज्य स्वामीजी ने भी उनकी मुक्त-कंठ से भरपूर सराहना की। स्थान-स्थान से यह मांग आने लगी कि इन्हें शीघ्र ही अनेक भाषाओं में पुस्तकाकार प्रकाशित कर जन-जन तक पहुँचाया जाय, इनका व्यापक प्रचार-प्रसार किया जाय; जिससे डॉक्टर साहव के चिन्तन का लाभ जन-जन को मिल सके।

गत वर्ष से सोनगढ़ में डॉ० भारिल्लजी के ही निर्देशन में प्रवचनकार-प्रशिक्षण शिविर आरम्भ हुआ है। उसमें भी यह मांग रही कि प्रवचनकारों को विशेषरूप से इन निबन्धों का अध्ययन कराया जाय एवं डॉक्टर साहब के इन पर विशेष व्याख्यान भी कराये जावें। इससे प्रवचनकारों को तो लाभ मिलेगा ही, साथ ही उनके द्वारा गांव-गांव में भी यह बात पहुँचेगी।

उक्त विशेष व्याख्यानों में दशधर्मों का मार्मिक विवेचन सुनकर सेठ श्री तखतराजजी कलकत्ता वाले इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने भावना व्यक्त की कि इन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित कर हिन्दी और गुजराती आत्मधर्म के ग्राहकों को – जो कि लगभग दश हजार हैं – भेंट दिए जावें, तदर्थ बारह हजार रुपये वे देंगे। परन्तु उस समय तक तो निबन्ध पूरे लिखे ही न गए थे, आधे ही लिखे जा सके थे, अतः बात वहीं की वहीं रही। अब जबकि निबन्ध पूर्ण हुए और पता चला कि दश हजार ग्राहकों को भेंट देने में तो तीस हजार से भी अधिक रुपये लगेंगे तो उन्होंने बारह हजार के स्थान पर बीस हजार रुपये देने का स्वयं प्रस्ताव किया।

पुस्तक के प्रकाशन में जिन दातारों ने अपना सहयोग प्रदान किया उनके नाम इस प्रकार हैं :–

श्री सेठ तखतराजजी, कलकत्ता	२०००१) रु०
श्री सेठ बच्छराजजी घमंडीलालजी गंगवाल, कलकत्ता	५००१) रु०
पं० फूलचंदजी सिद्धान्तशास्त्री, बनारस	१००१) रु०
श्री वीरचंदभाई कानजी मोटानी, कलकत्ता	१००१) रु०
श्री भानुशंकर मूलशंकर देसाई, कलकत्ता	५०१) रु०
श्री कपूरचंदभाई बोरा, कलकत्ता	५०१) रु०
श्री दि० जिन मंदिर, गम्भीरियाहाट (जि० सागर)	५०१) रु०
श्री शकरालाल जगजीवनदास गांधी, मोणासन	५०१) रु०
श्री केशवलालजी गुलाबचन्दजी	२५१) रु०
श्रीमती कंचनबैन चुन्नीलाल जेठालाल शाह, कलकत्ता	१०१) रु०
योग	२९३६०) रु०

शेष व्यय की पूर्ति श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ ने की है, तदर्थ ट्रस्ट के अध्यक्ष श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी एवं उक्त सभी दातारों के हम हृदय से आभारी हैं।

इसी बीच आत्मधर्म के मराठी, कन्नड़ और तमिल संस्करण भी डॉ० भारिल्लजी के ही सम्पादन में प्रारम्भ हुए। अतः उनके सम्पादकीयों में

पू० श्री कानजी स्वामी
जिनकी प्रेरणा से लाखों लोगों ने दिगम्बर जैनधर्म स्वीकार किया व उसके मर्म को पहिचाना ।

उनके ही सदुपदेश से प्रभावित होकर

सेठ श्री तखतराजजी जैन एवं श्रीमती चम्पादेवी जैन
उनकी धर्मपत्नी

ने भी दिगम्बर जैनधर्म को धारण किया ।

पू० स्वामीजी के उपकार को स्मरण करते हुए उक्त धर्मनिष्ठ दम्पति व उनके परिवार के सदस्यों ने इस कृति को आत्मधर्म के ग्राहकों को भेंटस्वरूप देने के लिए २० हजार रुपए की राशि प्रदान की है ।

ो यह प्रकाशित होने लगे । इसप्रकार यद्यपि अभी तक ये लगभग दश हजार तियों में तो प्रकाशित हो चुके हैं, हो रहे हैं; तथापि ये बारह हजार हिन्दी ,वं पाँच हजार गुजराती में पुस्तकाकार प्रकाशित हो रहे हैं । मराठी, कन्नड़ ,वं तमिल आत्मधर्म में प्रकाशित हो जाने के बाद उक्त भाषाओं में भी इनको पुस्तकाकार प्रकाशित करने की योजना है । आत्मधर्म के ग्राहकों को भेंट में देने के अतिरिक्त इस पुस्तक को स्वतन्त्र रूप से बिक्री के लिए भी उक्त सभी भाषाओं में उपलब्ध कराने की योजना है ।

लेखक की लोकप्रियता के लिये अधिक क्या लिखें – आपके द्वारा लिखित पुस्तकें जिनकी सूची पृष्ठ ८ पर अंकित है, विगत आठ वर्षों में अनेक भाषाओं में आठ लाख की संख्या में प्रकाशित हो चुकी हैं ।

आप मात्र लोकप्रिय लेखक ही नहीं; प्रभावक वक्ता, कुशल अध्यापक एवं सफल नियोजक भी हैं । पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी की आप पर परम कृपा है । वे बारम्बार कहते हैं – "पंडित हुकमचंद तत्त्वप्रचार के क्षेत्र में एक हीरा है, वर्त्तमान में हो रहे तत्त्व-प्रचार में उनका बहुत बड़ा हाथ है ।"

सच बात तो यह है कि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रताप से ऐसे अनेक हीरे उत्पन्न हो गए हैं, जो अपने कल्याण की दृष्टि से तत्त्वप्रचार के कार्यों में बिना कोई अपेक्षा के संलग्न हैं । उनका उपकार चुकाना तो असम्भव है । पूज्य गुरुदेवश्री की छत्रछाया में डॉ० हुकमचन्दजी द्वारा अध्यात्म जगत को जो अनेक सेवाएँ प्राप्त हो रही हैं, उनका संक्षेप में उल्लेख करना यहाँ असंगत न होगा ।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ के मुखपत्र आत्मधर्म के हिन्दी, मराठी, कन्नड़ और तमिल इन चार संस्करणों का सम्पादन तो आपके द्वारा हो ही रहा है; साथ में प्रवचनकार प्रशिक्षण-शिविर का संचालन भी आप करते हैं । इन दोनों ही कार्यों से तत्त्वप्रचार को अभूतपूर्व गति मिली है ।

श्री कुन्दकुन्द कहान दि० जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट द्वारा संचालित श्री टोडरमल दि० जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के तो आप प्राण ही हैं । उक्त विद्यालय ने अल्पकाल में ही समाज में अभूतपूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त की है । समाज को यह आशा बंध गई है कि इसके द्वारा विलुप्त हो रही पण्डित-पीढ़ी को नया जीवनदान मिलेगा । तीन वर्ष बाद यह महाविद्यालय प्रतिवर्ष १२-१३ शास्त्री, न्यायतीर्थ समाज को देने में समर्थ होगा । अभी इसमें एक-से-एक प्रतिभाशाली २८ छात्र अध्ययन कर रहे हैं ।

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा संचालित वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड, जिसमें प्रतिवर्ष बीस हजार छात्र-छात्रायें धार्मिक परीक्षा देते हैं,

डॉक्टर साहब ही चला रहे हैं। उसकी पाठ्य-पुस्तकें नवीनतम शैली में प्रायः आपने ही तैयार की हैं। उन्हें पढ़ाने की शैली में प्रशिक्षित करने के लिए ग्रीष्मकाल के अवकाश में प्रतिवर्ष या वर्ष में दो बार भी प्रशिक्षण शिविर डॉक्टर साहब के निर्देशन में आयोजित किये जाते हैं, जिनमें वे स्वयं अध्यापकों को प्रशिक्षित करते हैं। अब तक १२ शिविरों में १७४० अध्यापक प्रशिक्षित हो चुके हैं। तत्सम्बन्धी 'प्रशिक्षण निर्देशिका' भी आपने लिखी है।

श्री टोडरमल ग्रन्थमाला से अभी तक प्रायः आपके ही सम्पादन में आठ लाख की संख्या में ४१ पुष्प प्रकाशित हो चुके हैं। पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट में धार्मिक साहित्य का विक्री विभाग भी चलता है, जो प्रतिवर्ष लगभग एक लाख रुपये का धार्मिक साहित्य जन-जन तक पहुँचाता है।

भारतवर्षीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति के भी आप मंत्री हैं। इस पाठशाला समिति के प्रयत्नों से देश में २६७ वीतराग-विज्ञान पाठशालाएँ नवीन आरम्भ हुई हैं, जिनमें हजारों छात्र धार्मिक शिक्षा प्राप्त करते हैं।

इसके अतिरिक्त आपके निरन्तर होने वाले प्रभावशाली प्रवचनों से जयपुर ही नहीं, सम्पूर्ण भारतवर्ष लाभ उठाता है; उनसे तत्त्वप्रचार को अभूतपूर्व गति मिलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री के पुण्यप्रताप से चलने वाली अन्य गतिविधियों में भी आपका बौद्धिक सहयोग निरन्तर प्राप्त होता रहता है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक डॉ० भारिल्लजी के साथ-साथ इसके शुद्ध, सुन्दर एवं सुरुचिपूर्ण मुद्रण के लिये श्री सोहनलालजी जैन एवं श्री राजमलजी जैन, जयपुर प्रिन्टर्स के भी हम बहुत-बहुत आभारी हैं। इनके सक्रिय सहयोग विना इस रूप में इसका प्रकाशन संभव नहीं था।

यद्यपि यह आत्मधर्म में प्रकाशित लेखों का ही पुस्तकाकार प्रकाशन है तथापि इसमें आवश्यक संशोधन, परिवर्त्तन एवं परिवर्द्धन भी किया गया है।

इसप्रकार यह "धर्म के दशलक्षण" पुस्तक प्रकाशित करते हुए हम बहुत प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं और आशा करते हैं कि आत्मार्थी बन्धु इससे पूरा-पूरा लाभ उठाकर आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होंगे।

निवेदक

साहित्य प्रकाशन समिति

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

विषय-सूची

लेखक के अन्य प्रकाशन

१.	पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	१०.००
२.	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़] पाकेट बुक साइज (हिन्दी में)	५.०० २.००
३.	अपने को पहचानिए [हिन्दी, गुजराती]	०.५०
४.	सर्वोदय तीर्थ	२.००
५.	मैं कौन हूँ ?	१.००
६.	युगपुरुष श्री कानजी स्वामी	१.००
७.	अनेकान्त और स्याद्वाद	०.३५
८.	तीर्थंकर भगवान महावीर [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, असमी, तेलगु]	०.४०
९.	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	३.००
१०.	पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य	०.६५
११.	अर्चना [पूजन संग्रह]	०.४०
१२.	वालवोध पाठमाला भाग २ [हिन्दी, गुजराती, मराठी]	०.७०
१३.	वालवोध पाठमाला भाग ३ [हिन्दी, गुजराती, मराठी]	०.७०
१४.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ [हिन्दी, गुजराती]	०.७०
१५.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २ [हिन्दी, गुजराती]	१.००
१६.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३ [हिन्दी, गुजराती]	१.००
१७.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१.२५
१८.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१.२५
१९.	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	०.२५
२०.	सत्य की खोज (भाग एक) [हिन्दी, गुजराती]	२.००

दशलक्षण महापर्व

पर्वों की चर्चा जब भी चलती है तब-तब उनका संबंध प्राय: खाने-पीने और खेलने से जोड़ा जाता है – जैसे रक्षाबंधन के दिन खीर और लड्डू खाये जाते हैं, भौंरे खेले जाते हैं, राखी बांधी जाती है; होली के दिन अमुक पकवान खाये जाते हैं, रंग डाला जाता है, होली जलाई जाती है; दीपावली के दिन पटाके चलाये जाते हैं, दीपक जलाये जाते हैं, लड्डू चढ़ाये जाते हैं एवं अमुक पकवान खाये जाते हैं; आदि-आदि ।

पर अष्टाह्निका और दशलक्षण जैसे जैन पर्वों का संबंध खाने और खेलने से न होकर खाना और खेलना त्यागने से है । ये भोग के नहीं, त्याग के पर्व हैं; इसीलिए महापर्व हैं । इनकी महानता त्याग के कारण है, आमोद-प्रमोद के कारण नहीं ।

आप किसी भी जैन से पूछिये कि दशलक्षण महापर्व कैसे मनाया जाता है तो वह यही उत्तर देगा कि इन दिनों लोग संयम से रहते हैं, पूजन-पाठ करते हैं, व्रत-नियम-उपवास रखते हैं, हरित पदार्थों का सेवन नहीं करते । स्वाध्याय और तत्त्व-चर्चा में ही अधिकांश समय बिताते हैं । सर्वत्र बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा शास्त्र सभाएँ होती हैं, उनमें उत्तमक्षमादि दश धर्मों का स्वरूप समझाया जाता है । सभी लोग कुछ न कुछ विरक्ति धारण करते हैं, दान देते हैं, आदि अनेक प्रकार के धार्मिक कार्यों में संलग्न रहते हैं । सर्वत्र एक प्रकार से धार्मिक वातावरण बन जाता है ।

पर्व दो प्रकार के होते हैं – (१) शाश्वत और (२) सामयिक, जिन्हें हम त्रैकालिक और तात्कालिक भी कह सकते हैं ।

तात्कालिक पर्व भी दो प्रकार के होते हैं – (१) व्यक्ति विशेष से संबंधित और (२) घटना विशेष से संबंधित ।

दीपावली, महावीर जयन्ती, रामनवमी, जन्माष्टमी आदि पर्व व्यक्ति विशेष से संबंध रखने वाले पर्व हैं, क्योंकि दीपावली और महावीर जयन्ती क्रमश: महावीर के निर्वाण और जन्म से संबंध रखती हैं और रामनवमी और जन्माष्टमी राम और कृष्ण के जन्म से संबंधित हैं ।

घटना विशेष से संबंधित पर्वों में रक्षाबंधन, अक्षयतृतीया, होली आदि पर्व आते हैं, क्योंकि ये प्रसिद्ध पौराणिक घटनाओं से संबंध रखने वाले पर्व हैं। ऐतिहासिक घटनाओं से संबंधित आज के राष्ट्रीय पर्व – स्वतंत्रता दिवस और गणतंत्र दिवस कहे जा सकते हैं।

त्रैकालिक अर्थात् शाश्वत पर्व न तो किसी व्यक्ति विशेष से संबंधित होते हैं, और न घटना विशेष से; वे तो आध्यात्मिक भावों से संबंधित होते हैं। दशलक्षण महापर्व एक ऐसा ही त्रैकालिक शाश्वत पर्व है जो आत्मा के क्रोधादि विकारों के अभाव के फलस्वरूप प्रकट होने वाले उत्तमक्षमादि भावों से संबंध रखता है।

घटनाओं और व्यक्ति विशेष से संबंधित पर्व निश्चित रूप से अनादि नहीं हो सकते, क्योंकि वे संबंधित घटना या व्यक्ति से पूर्व संभव नहीं हैं। वे अनन्त भी नहीं हो सकते, क्योंकि जब भविष्य में कोई इनसे भी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति उत्पन्न हो जायगा या घटना घट जायेगी तो जगत उसे याद रखने लगेगा, उससे संबंधित पर्व मनाने लगेगा, इन्हें भूल जायगा। अगले तीर्थंकर उत्पन्न होने पर भविष्य में उनकी जयन्ती और निर्वाण-दिवस मनाया जायगा, इनका नहीं। जिसप्रकार हम भूतकाल की चौबीसी को भूल-से बैठे हैं, उसीप्रकार भविष्य इन्हें भी याद नहीं रख पावेगा।

घटनाएँ और व्यक्ति कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों, वे सार्वभौम और सार्वकालिक नहीं हो सकते। उन सब की अपने-अपने क्षेत्र और काल संबंधी सीमाएँ हैं, वे असीम नहीं हो सकते। अतः वे ही पर्व सार्वभौम और सार्वकालिक हो सकते हैं, जो किसी व्यक्ति विशेष या घटना विशेष से संबंधित न होकर सभी जीवों से, उनके भावों से, समानरूप से संबंधित हों। दशलक्षण महापर्व एक ऐसा ही महान पर्व है जो सब जीवों के भावों से समानरूप से संबंधित है। यही कारण है कि वह शाश्वत है, सब का है, और सदा रहेगा। उसकी उपयोगिता सार्वभौमिक और सार्वकालिक है।

दशलक्षण महापर्व सम्प्रदायविशेष का नहीं, सब का है। भले ही उसे मात्र सम्प्रदायविशेष के लोग ही क्यों न मनाते हों, पर वह साम्प्रदायिक पर्व नहीं है; क्योंकि वह साम्प्रदायिक भावनाओं पर आधारित पर्व नहीं है, उसका आधार सार्वजनिक है। विकारी भावों का परित्याग एवं उदात्तभावों का ग्रहण ही उसका आधार है,

जो सभी को समानरूप से हितकारी है। अतः यह पर्व मात्र जैनों का नहीं, जन-जन का पर्व है। इसे सम्प्रदायविशेष का पर्व मानना स्वयं साम्प्रदायिक दृष्टिकोण है।

यह सब का पर्व है, इसका एक कारण यह भी है कि सभी प्राणी सुखी होना चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। क्रोधादि भाव दुख के कारण हैं और स्वयं दुखस्वरूप हैं एवं उत्तमक्षमादि भाव सुख के कारण हैं और स्वयं सुखस्वरूप हैं। अतः दुख से डरने वाले सभी सुखार्थी जीवों को क्रोधादि के त्यागरूप उत्तमक्षमादि दश धर्म परम आराध्य हैं।

इसप्रकार सभी को सुखकर और सन्मार्गदर्शक होने से यह दशलक्षण महापर्व सभी का पर्व है।

क्रोधादि विभावभावों के अभावरूप उत्तमक्षमादि दश धर्मों का विकास ही जिसका मूल है, ऐसे दशलक्षण महापर्व की सार्वभौमिकता का आधार यह है कि सर्वत्र ही क्रोधादिक को बुरा, अहितकारी और क्षमादि भावों को भला और हितकारी माना जाता है। ऐसा कौनसा क्षेत्र है जहाँ क्रोधादि को बुरा और क्षमादि को अच्छा न माना जाता हो ?

वह सार्वकालिक भी इसी कारण है, क्योंकि कोई काल ऐसा नहीं कि जब क्रोधादि को हेय और उत्तमक्षमादि को उपादेय न माना जाता रहा हो, न माना जाता हो, और न माना जाता रहेगा। अर्थात् सर्वकालों में इसकी उपादेयता असंदिग्ध है। भूतकाल में भी क्रोधादि से दुख व अशान्ति तथा क्षमादि से सुख व शान्ति की प्राप्ति होती देखी गई है, वर्त्तमान में भी देखी जाती है, और भविष्य में भी देखी जायगी।

उत्तमक्षमादि धर्मों की सार्वभौमिक त्रैकालिक उपयोगिता एवं सुखकरता के कारण ही दशलक्षण महापर्व शाश्वत पर्वों में गिना जाता है और इसी कारण यह महापर्व है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यह महापर्व त्रैकालिक है, अनादि-अनन्त है, तो फिर इसके आरंभ होने की कथा शास्त्रों में क्यों आती है ? शास्त्रों में आता है कि :—

"कालचक्र के परिवर्तन में कुछ स्वाभाविक उतार-चढ़ाव आते हैं, जिन्हें जैन परिभाषा में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के नाम से जाना जाता है। अवसर्पिणी में क्रमशः ह्रास और उत्सर्पिणी में

क्रमशः विकास होता है। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में छह-छह काल होते हैं।

प्रत्येक अवसर्पिणी काल के अन्त में जब पंचम काल समाप्त और छठा काल आरंभ होता है तब लोग अनार्यवृत्ति धारण कर हिंसक हो जाते हैं। उसके बाद जब उत्सर्पिणी आरंभ होती है और धर्मोत्थान का काल पकता है तब श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से सात सप्ताह (४९ दिन) तक विभिन्नप्रकार की बरसात होती है, जिसके माध्यम से सुकाल पकता है और लोगों में पुनः अहिंसक आर्यवृत्ति का उदय होता है। एकप्रकार से धर्म का उदय होता है, आरंभ होता है, और उसी वातावरण में दश दिन तक उत्तमक्षमादि दश धर्मों की विशेष आराधना की जाती है तथा इसी आधार पर हर उत्सर्पिणी में यह महापर्व चल पड़ता है।"

यह कथा तो मात्र यह बताती है कि प्रत्येक उत्सर्पिणी काल में इस पर्व का पुनरारम्भ कैसे होता है। इस कथा से दशलक्षण महापर्व की अनादि-अनन्तता पर कोई आँच नहीं आती।

यह कथा भी तो शाश्वत कथा है जो अनेक बार दुहराई गई है और दुहराई जायगी। क्योंकि अवसर्पिणी के पंचम काल के अन्त में जब-जब लोग इन उत्तमक्षमादि धर्मों से अलग हो जायेंगे और उत्सर्पिणी के प्रारंभ काल में जब-जब इसकी पुनरावृत्ति होगी, तब-तब उस युग में दशलक्षण महापर्व का इस तरह आरंभ होगा। वस्तुतः यह युगारंभ की चर्चा है, पर्वारंभ की नहीं। यह अनादि से अनेक युगों तक इसीप्रकार आरंभ हो चुका है और भविष्य में भी होता रहेगा।

इसकी अनादि-अनन्तता शास्त्र-सम्मत तो है ही, युक्तिसंगत भी है। क्योंकि जब से यह जीव है तभी से यद्यपि क्षमादिस्वभावी है, तथापि प्रकटरूप (पर्याय) में क्रोधादि विकारों से युक्त भी तभी से है। इसीकारण ज्ञानानन्दस्वभावी होकर भी अज्ञानी और दुखी है। जबसे यह दुखी है; सुख की आवश्यकता भी तभी से है। चूंकि सभी जीव अनादि से हैं, अतः सुख के कारण उत्तमक्षमादि धर्मों की आवश्यकता भी अनादि से ही रही है।

इसीप्रकार यद्यपि अनन्त आत्माएँ क्षमादिस्वभावी आत्मा का आश्रय लेकर क्रोधादि से मुक्त हो चुकी हैं, तथापि उनसे भी अनन्तगुणी आत्माएँ अभी भी क्रोधादि विकारों से युक्त हैं, दुखी हैं;

अतः आज भी इन धर्मों की आराधना की पूरी-पूरी आवश्यकता है तथा सुदूरवर्ती भविष्य में भी क्रोधादि विकारों से युक्त दुखी आत्माएँ रहने वाली हैं, अतः भविष्य में भी इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है ।

तीनलोक में सर्वत्र ही क्रोधादि दुःख के और क्षमादि सुख के कारण हैं । यही कारण है कि यह महापर्व शाश्वत अर्थात् त्रैकालिक और सार्वभौमिक है, सब का है । भले ही सब इसकी आराधना न करें, पर यह अपनी प्रकृति के कारण सब का है, सब का था, और सब का रहेगा ।

यद्यपि अष्टाह्निका महापर्व के समान यह भी वर्ष में तीन बार आता है – (१) भादों सुदी ५ से १४ तक, (२) माघ सुदी ५ से १४ तक, व (३) चैत्र सुदी ५ से १४ तक; तथापि सारे देश में विशालरूप में बड़े उत्साह के साथ मात्र भादों सुदी ५ से १४ तक ही मनाया जाता है । बाकी दो को तो बहुत से जैन लोग भी जानते तक नहीं हैं । प्राचीन काल में बरसात के दिनों में आवागमन की सुविधाओं के पर्याप्त न होने से व्यापारादि कार्य सहज ही कम हो जाते थे । तथा जीवों की उत्पत्ति भी बरसात में बहुत होती है । अहिंसक समाज होने से जैनियों के साधुगण तो चार माह तक गाँव से गाँव भ्रमण बंद कर एक स्थान पर ही रहते हैं, श्रावक भी बहुत कम भ्रमण करते थे । अतः सहज ही सत्समागम एवं समय की सहज उपलब्धि ही विशेष कारण प्रतीत होते हैं – भादों में ही इसके विशाल पैमाने पर मनाये जाने के ।

वैसे तो प्रत्येक धार्मिकपर्व का प्रयोजन आत्मा में वीतराग भाव की वृद्धि करने का ही होता है, किन्तु इस पर्व का संबंध विशेष रूप से आत्म-गुणों की आराधना से है । अतः यह वीतरागी पर्व संयम और साधना का पर्व है ।

पर्व अर्थात् मंगल काल, पवित्र अवसर । वास्तव में तो अपने आत्म-स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक वीतरागी दशा का प्रगट होना ही यथार्थ पर्व है, क्योंकि वही आत्मा का मंगलकारी है और पवित्र अवसर है ।

धर्म तो आत्मा में प्रकट होता है, तिथि में नहीं; किन्तु जिस तिथि में आत्मा में क्षमादिरूप वीतरागी शान्ति प्रकट हो, वही तिथि पर्व कही जाने लगती है । धर्म का आधार तिथि नहीं, आत्मा है ।

आत्म-स्वरूप की प्रतीतिपूर्वक चारित्र (धर्म) की दश प्रकार से आराधना करना ही दशलक्षण धर्म है। आत्मा में दश प्रकार के सद्भावों (गुणों) के विकास से संवंधित होने से ही इसे दशलक्षण महापर्व कहा जाता है।

अनादिकाल से ही प्रत्येक आत्मा, आत्मा में ही उत्पन्न, आत्मा के ही विकार – क्रोध, मान, माया, लोभ, असत्य, असंयम आदि के कारण ही दुखी और अशान्त रहता आया है। अशान्ति और दुख मेटने का एक मात्र उपाय आत्माराधना है। आत्म-स्वभाव को जानकर, मानकर, उसी में जम जाने से, उसी में समा जाने से, अतीन्द्रिय आनन्द और सच्ची शान्ति की प्राप्ति होती है। ऐसे ही आत्माराधक व्यक्ति के हृदय में उत्तमक्षमादि गुणों का सहज विकास होता है। अतः यह स्पष्ट है कि उक्त पर्व का संवंध आत्माराधना से है – प्रकारान्तर से उत्तमक्षमादि दश गुणों की आराधना से है।

क्षमादि दश गुणों को दश धर्म भी कहते हैं। ये दश धर्म हैं – (१) उत्तमक्षमा (२) उत्तममार्दव (३) उत्तमआर्जव (४) उत्तम सत्य (५) उत्तमशौच (६) उत्तमसंयम (७) उत्तमतप (८) उत्तम त्याग (९) उत्तमआकिंचन्य, और (१०) उत्तमब्रह्मचर्य।

ये दश धर्म नहीं, धर्म के दश लक्षण हैं; जिन्हें संक्षेप में दशधर्म शब्दों से भी अभिहित कर दिया जाता है। जिस आत्मा में आत्म-रुचि, आत्म-ज्ञान और आत्म-लीनतारूप धर्म पर्याय प्रकट होती है, उसमें धर्म के ये दश लक्षण सहज प्रकट हो जाते हैं। ये आत्माराधन के फलस्वरूप प्रकट होने वाले धर्म हैं, लक्षण हैं, चिह्न हैं।

यद्यपि उक्त दश धर्म चारित्रगुण की निर्मल पर्यायें हैं, तथापि प्रत्येक के साथ लगा हुआ उत्तम शब्द सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की अनिवार्य सत्ता को सूचित करता है। तात्पर्य यह है कि ये चारित्र गुण की निर्मल दशाएँ सम्यग्दृष्टि ज्ञानी आत्मा को ही प्रकट होती हैं, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को नहीं।

वस्तुतः चारित्र ही साक्षात् धर्म है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो चारित्ररूप वृक्ष की जड़ें (मूल) हैं। जैसे वृक्ष जड़ के विना खड़ा नहीं रह सकता, पनप नही सकता, अथवा जड़ के विना जैसे वृक्ष की एक प्रकार से सत्ता ही संभव नहीं है; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी जड़ के विना सम्यक्चारित्ररूपी वृक्ष खड़ा ही नहीं रह

सकता, पनप नहीं सकता, अथवा इन दोनों के बिना सम्यक्चारित्र की सत्ता की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

यद्यपि लोक में बहुत से लोग आत्म-श्रद्धान और आत्म-ज्ञान के बिना भी बंधन के भय एवं स्वर्ग-मोक्ष तथा मान-प्रतिष्ठा आदि के लोभ से क्रोधादि कम करते या नहीं करते-से देखे जाते हैं, तथापि वे उत्तमक्षमादि दशधर्मों के धारक नहीं माने जा सकते हैं।

इस संबंध में महापंडित टोडरमलजी के विचार दृष्टव्य हैं :–

"तथा बंधादिक के भय से अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से क्रोधादि नहीं करते, परन्तु वहाँ क्रोधादि करने का अभिप्राय तो मिटा नहीं है। जैसे – कोई राजादिक के भय से अथवा महंतपने के लोभ से परस्त्री का सेवन नहीं करता, तो उसे त्यागी नहीं कहते। वैसे ही यह क्रोधादिक का त्यागी नहीं है।

तो कैसे त्यागी होता है? पदार्थ अनिष्ट–इष्ट भासित होने से क्रोधादिक होते हैं; जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, तब स्वयमेव ही क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते; तब सच्चा धर्म होता है।"[1]

इसप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक क्रोधादि का नहीं होना ही उत्तमक्षमादि धर्म है।

यद्यपि उक्त दशधर्मों का वर्णन शास्त्रों में जहाँ-तहाँ मुनिधर्म की अपेक्षा किया गया है, तथापि ये धर्म मात्र मुनियों को धारण करने के लिए नहीं हैं, गृहस्थों को भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार इन को अवश्य धारण करना चाहिए। धारण क्या करना चाहिए, वस्तुतः बात तो ऐसी है कि ज्ञानी गृहस्थ के भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार ये होते ही हैं, इनका पालन सहज पाया जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र में गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा (बारह भावना) और परीषहजय के साथ ही उत्तमक्षमादि दशधर्मों की चर्चा की गई है।[2] ये सब मुनिधर्म से संबंधित विषय हैं। यही कारण है कि जहाँ-जहाँ इनका वर्णन मिलता है, उसका उत्कृष्टरूप का ही वर्णन मिलता है। इससे आतंकित होकर सामान्य श्रावकों द्वारा इनकी उपेक्षा संगत नहीं है।

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२८

[2] स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः (अ० ९ सूत्र २)

यदि मुनियों को अनन्तानुबंधी आदि तीन कषायों के अभावरूप उत्तमक्षमादि धर्म होंगे तो पंचम गुणस्थानवर्ती ज्ञानी श्रावकों के अनन्तानुबंधी आदि दो कषायों के अभावरूप उत्तमक्षमादि धर्म होंगे। इसीप्रकार चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि के एकमात्र अनन्तानुबंधी कषाय के अभावरूप धर्म उत्तमक्षमादि धर्म प्रकट होंगे। मिथ्यादृष्टि के उत्तमक्षमादि धर्म नहीं होते। उसकी कषायें कितनी भी मंद क्यों न हों, उसके उक्त धर्म प्रगट नहीं हो सकते, क्योंकि उक्त धर्म कषाय के अभाव से प्रकट होने वाली पर्यायें है, मंदता से नहीं। मंदता से जो तारतम्यरूप भेद पड़ते हैं, उन्हें शास्त्रों में लेश्या संज्ञा दी है, धर्म नहीं। धर्म तो मिथ्यात्व और कषाय के अभाव का नाम है, मंदता का नहीं।

इन धर्मों की व्याख्या अनेक पहलुओं (दृष्टिकोणों) से संभव है। जैसे मुनियों और श्रावकों की अपेक्षा, निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा, अन्तर और वाह्य की अपेक्षा आदि।

इनमें से प्रत्येक धर्म स्वतंत्ररूप से विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखता है। आगे प्रत्येक पर विस्तृत विश्लेषण किया ही जारहा है।

अतः अब यहाँ इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ कि इस दशलक्षण महापर्व के पावन अवसर पर सभी आत्माएँ धर्म के उक्त दश लक्षणों को अच्छी तरह जानकर, पहिचानकर, तद्रूप परिणमन कर परमसुखी हों।

उत्तमक्षमा

क्षमा आत्मा का स्वभाव है । क्षमास्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा में जो क्रोध के अभावरूप शान्ति-स्वरूप पर्याय प्रकट होती है, उसे भी क्षमा कहते हैं । यद्यपि आत्मा क्षमास्वभावी है तथापि अनादि से आत्मा में क्षमा के अभावरूप क्रोध पर्याय ही प्रकटरूप से विद्यमान है ।

जब-जब उत्तमक्षमादि धर्मों की चर्चा चलती है तब-तब उनका स्वरूप अभावरूप ही बताया जाता है । कहा जाता है – क्रोध का अभाव क्षमा है, मान का अभाव मार्दव है, माया का अभाव आर्जव है – आदि ।

क्या धर्म अभावस्वरूप (Negative) है ? क्या उसका कोई भावात्मक (Positive) रूप नहीं है ? यदि है, तो क्यों नहीं उसे भावात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता ?

क्रोध नहीं करना, मान नहीं करना, छल-कपट नहीं करना, हिंसा नहीं करना, चोरी नहीं करना, आदि न जाने कितने निषेध समा गये हैं धर्म में । धर्म क्या मात्र निषेधों का नाम है ? क्या उसका कोई विधेयात्मक पक्ष नहीं ? यदि धर्म में पर से निवृत्ति की बात है तो साथ में स्व में प्रवृत्ति की भी चर्चा कम नहीं है ।

यह नहीं करना, वह नहीं करना, प्रतिबंधों की भाषा है । बंधन से छूटने का अभिलाषी मोक्षार्थी जब धर्म के नाम पर भी बंधनों की लम्बी सूची सुनता है तो घबड़ा जाता है । वह सोचता है कि यहाँ आया था बंधन से छूटने का मार्ग खोजने के लिये और यहाँ तो अनेक प्रतिबंधों में बांधा जा रहा है । धर्म तो स्वतन्त्रता का नाम है । जिसमें अनन्त बंधन हों, वह धर्म कैसा ?

तो क्या धर्म प्रतिबंधों का नाम है, अभावस्वरूप है ?

नहीं, धर्म तो वस्तु के स्वभाव को कहते हैं, अतः वह सद्भावस्वरूप ही होता है, अभावस्वरूप नहीं । पर क्या करें, हमारी भाषा उल्टी हो गई है । क्रोध का अभाव क्षमा है, मान का अभाव मार्दव है – के स्थान पर हम ऐसा क्यों नहीं कहते कि क्षमा का अभाव क्रोध है, मार्दव का अभाव मान है, आर्जव का अभाव मायाचार है, आदि ।

जरा विचारिए – ज्ञान का अभाव अज्ञान है या अज्ञान का अभाव ज्ञान ? 'ज्ञान' मूल शब्द है, उसमें निषेधवाचक 'अ' लगाकर 'अज्ञान' शब्द बना है, अतः स्वतः सिद्ध है कि ज्ञान का अभाव अज्ञान है ।

वस्तु का स्वभाव तो धर्म होता ही है, साथ ही स्वभाव के अनुरूप पर्याय को अर्थात् स्वभावपर्याय को भी धर्म कहा जाता है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभावपर्याय होने से ही धर्म हैं । विभाव (विभाव पर्याय) को अधर्म कहते हैं ।

ज्ञान आत्मवस्तु का स्वभाव है, अतः धर्म है । सम्यग्ज्ञानपर्याय को भी ज्ञान कहते हैं, अतः सम्यग्ज्ञान भी धर्म है । अज्ञान (मिथ्याज्ञान-पर्याय) आत्मा का विभाव है, अतः वह अधर्म है । इसीप्रकार क्षमा आत्मा का स्वभाव है, अतः वह तो धर्म है ही; साथ ही क्षमास्वभावी आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होने वाली क्षमाभावरूप स्वभावपर्याय भी धर्म है, किन्तु क्षमास्वभावी आत्मा जब क्षमास्वभावरूप परिणमन न करके विभावरूप परिणमन करता है, तो उसके उस विभाव परिणमन को क्रोध कहा जाता है ।

क्रोध आत्मा का एक विभाव है और वह क्षमा के अभावस्वरूप प्रकट हुआ है । यद्यपि वह संतति की अपेक्षा से अनादि का है तथापि प्रति समय नया-नया उत्पन्न होता है, अतः सत्य तो यह है कि क्षमा का अभाव क्रोध है, पर कहा यह जाता है कि क्रोध का अभाव क्षमा है । इसका कारण यह है कि अनादि से यह आत्मा कभी भी क्षमादि स्वभावरूप परिणमित नहीं हुआ, क्रोधादि विकाररूप ही परिणमित हुआ है, और जब भी क्षमादि स्वभावरूप परिणमित होता है तो क्रोधादि का अभाव हो जाता है । अतः क्रोधादि का अभावपूर्वक क्षमादिरूप परिणमन देखकर उक्त कथन किया जाता है ।

यदि ज्ञान के समान ही इसका प्रयोग अपेक्षित हो तो वह इस प्रकार किया जा सकता है :– ज्ञान का अभाव अज्ञान, क्षमा का अभाव अक्षमा (क्रोध), मार्दव का अभाव अमार्दव (मान), आर्जव का अभाव अनार्जव (मायाचार-छल कपट) आदि ।

जब कोई यह नहीं कहता कि अज्ञान मत करो, पर यही कहा जाता है कि ज्ञान करो; तब क्रोध मत करो के स्थान पर क्षमा धारण करो, क्यों नहीं कहा जाता ? इसका भी कारण है, और वह यह कि हम क्रोध, मान, माया आदि से परिचित हैं; वे हमारे नित्य

अनुभूत विभाव हैं। क्षमादि हमारे लिए अपरिचित और अननुभूत से हैं। परिचित से अपरिचित की ओर अनुभूत से अननुभूत की तरफ जाना ही सहज होता है।

दुनियाँ की स्थिति यह है कि उसे जब यह कहा जाता है कि क्रोध नहीं करना क्षमा है तो उसे संतोष हो जाता है, पर उसे यह कहा जाय कि क्षमा नहीं करना क्रोध है तो अटपटा लगता है, कुछ समझ में नहीं आता। अतः क्रोध की परिभाषा सदा भावात्मक (Positive) समझाई जाती है। जैसे – क्रोध गुस्से को कहते हैं, जब क्रोध आता है तो आँखें लाल हो जाती हैं, शरीर काँपने लगता है, ओंठ फड़कने लगते हैं, आदि।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि आचार्यों ने भी तो इसीप्रकार समझाया है। आचार्यों के सामने भी एक समस्या थी कि उन्हें क्रोधियों को क्षमा समझानी थी, अतः क्षमा को भी क्रोध के माध्यम से समझाना पड़ा। व्यवहारी को व्यवहार की भाषा में समझाना पड़ता है। मुनिजन क्षमा के भंडार होते हैं। यदि वे अपनी ओर से बोलेंगे तो यही बोलेंगे कि क्षमा का अभाव क्रोध है, पर दुनियाँ में भाव होता है वक्ता का और भाषा होती है श्रोता की। यदि श्रोता की भाषा में न बोला गया तो वह कुछ समझ ही न सकेगा।

अतः ज्ञानीजन समझाना तो चाहते हैं क्षमाधर्म, पर समझाते हैं क्रोध की बात करके। बच्चों से बात करने के लिए उनकी ओर से बोलना पड़ता है। जब हम बच्चे से कहते हैं कि माँ को बुलाना, तब हमारा आशय बच्चों की माँ से होता है, अपनी माँ से नहीं; क्योंकि हम जानते हैं कि ऐसा कहने पर बच्चा अपनी माँ को ही बुलायेगा, हमारी माँ को नहीं।

इसीप्रकार जब हमें भी क्षमा को क्रोध की भाषा में ही समझाना है तो पहिले क्रोध को ही अच्छी तरह स्पष्ट करना समुचित होगा।

यद्यपि यह आत्मा ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का कन्द है, स्वभाव से स्वयं परिपूर्ण है; तथापि कुछ विकृतियाँ, कमजोरियाँ तब से ही इसके साथ जुड़ी हुई हैं, जब से यह है। उन कमजोरियों को शास्त्रकारों ने विभाव कहा, कषाय कहा, और न जाने क्या-क्या नाम दिये; उनके त्याग का उपदेश भी कम नहीं दिया; सच्चे सुख को प्राप्त करने का उपाय भी उनके त्याग को ही बताया।

महात्माओं के अनेक उपदेशों और आदेशों के वावजूद भी प्राणी इनसे बच नहीं पाया। इन कमजोरियों के कारण प्राणियों ने अनेक कष्ट उठाये हैं, उठा रहे हैं, और उठायेंगे। इन से वचने के लिये भी उपाय कम नहीं किये गये, पर वात वहीं की वहीं रही।

जिन विकारों के कारण, जिन कमजोरियों के कारण, जिन कषायों के कारण प्राणी सफलता के द्वार तक पहुँच कर भी कई वार असफल हुआ, सुख-शान्ति के शिखर पर पहुँचने के लिए प्रयत्नशील रहने पर भी पहुँच नहीं पाया; उन विकारों में, उन कमजोरियों में, उन कषायों में सवसे वड़ा विकार, सवसे वड़ी कमजोरी और सवसे वड़ी कषाय है क्रोध।

क्रोध आत्मा की एक ऐसी विकृति है, ऐसी कमजोरी है, जिसके कारण उसका विवेक समाप्त हो जाता है, भले-बुरे की पहिचान नहीं रहती। जिसपर क्रोध आता है, क्रोधी उसे भला-बुरा कहने लगता है, गाली देने लगता है, मारने लगता है, यहाँ तक कि स्वयं की जान जोखम में डालकर भी उसका बुरा करना चाहता है। यदि कोई हितैषी पूज्य पुरुष भी वीच में आवे तो उसे भी भला-बुरा कहने लगता है, मारने तक को तैयार हो जाता है। यदि इतने पर भी उसका बुरा न हो तो स्वयं वहुत दुखी होता है, अपने ही अंगों का घात करने लगता है, माथा कूटने लगता है, यहाँ तक कि विषादि भक्षण करके मर तक जाता है।

लोक में जितनी भी हत्याएँ और आत्म-हत्याएँ होती हैं, उनमें से अधिकांश क्रोधावेश में ही होती हैं। क्रोध के समान आत्मा का कोई दूसरा शत्रु नहीं है।

क्रोध करने वाले को जिसपर क्रोध आता है, वह उसकी ओर ही देखता है, अपनी ओर नहीं देखता। क्रोधी को जिसपर क्रोध आता है, उसी की गलती दिखाई देती है, अपनी नहीं; चाहे निष्पक्ष विचार करने पर अपनी ही गलती क्यों न निकले। पर क्रोधी विचार करता ही कव है? यही तो उसका अन्धापन है कि उसकी दृष्टि पर की ओर ही रहती है और वह भी पर में विद्यमान-अविद्यमान दुर्गुणों की ओर ही; गुणों को तो वह देख ही नहीं पाता। यदि उसे पर के गुण दिखाई दे जावें तो फिर उस पर क्रोध ही क्यों आवे, फिर तो उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगी।

यदि मालिक के स्वयं के पैर से ठोकर खाकर काच का गिलास फूट जावे तो एकदम चिल्लाकर कहेगा कि इधर वीच में गिलास किसने रख दिया ? उसे गिलास रखने वाले पर क्रोध आएगा, स्वयं पर नहीं। वह यह नहीं सोचेगा कि मैं देखकर क्यों नहीं चला ?

यदि वही गिलास नौकर के पैर की ठोकर से फूटे तो चिल्लाकर कहेगा – देखकर नहीं चलता, अंधा है। फिर उसे वीच में गिलास रखने वाले पर क्रोध न आकर ठोकर देने वाले पर आएगा, क्योंकि वीच में गिलास रखा तो स्वयं उसने है।

गलती हमेशा नौकर की ही दिखेगी चाहे स्वयं ठोकर दे, चाहे नौकर के पैर की ठोकर लगे; चाहे स्वयं गिलास रखे, चाहे दूसरे ने रखा हो।

यदि कोई कह दे कि गिलास तो आप ही ने रखा था और ठोकर भी आपने मारी, अव नौकर को क्यों डांटते हो ? तव भी यही वोलेगा कि इसे उठा लेना चाहिए था, इसने उठाया क्यों नहीं ? उसे अपनी भूल दिख ही नहीं सकती, क्योंकि क्रोधी 'पर' में ही भूल देखता है, स्वयं में देखने लगे तो क्रोध आएगा कैसे ? यही कारण है कि आचार्यों ने क्रोधी को क्रोधान्ध कहा है।

क्रोधान्ध व्यक्ति क्या-क्या नहीं कर डालता ? सारी दुनियाँ में मनुष्यों द्वारा जितना भी विनाश होता देखा जाता है, उसके मूल में क्रोधादि विभाव ही देखे जाते हैं। द्वारिका जैसी पूर्ण विकसित और सम्पन्न नगरी का विनाश द्वीपायन मुनि के क्रोध के कारण ही हुआ था। क्रोध के कारण सैंकड़ों घर-परिवार टूटते देखे जाते हैं।

अधिक क्या कहें – जगत में जो कुछ भी वुरा नजर आता है, वह सव क्रोधादि विकारों का ही परिणाम है।

कहा भी है :–

'क्रोधोदयाद् भवति कस्य न कार्यहानिः'[1]

क्रोध के उदय में किसकी कार्य-हानि नहीं होती, अर्थात् सभी की हानि होती है।

हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'क्रोध' नामक निबंध में इसका अच्छा विश्लेषण किया है।

---

[1] आत्मानुशासन, छन्द २१६

क्रोध एक शान्ति भंग करने वाला मनोविकार है। वह क्रोध करने वाले की मानसिक शान्ति तो भंग कर ही देता है, साथ ही वातावरण को भी कलुषित और अशान्त कर देता है। जिसके प्रति क्रोध-प्रदर्शन होता है, वह तत्काल अपमान का अनुभव करता है और इस दुख पर उसकी भी त्यौरी चढ़ जाती है। यह विचार करने वाले बहुत थोड़े निकलते हैं कि हम पर जो क्रोध प्रकट किया जा रहा है वह उचित है या अनुचित !

क्रोध का एक खतरनाक रूप है वैर। वैर क्रोध से भी खतरनाक मनोविकार है। वस्तुतः वह क्रोध का ही एक विकृत रूप है। वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है। क्रोध के आवेश में हम तत्काल बदला लेने की सोचते हैं। सोचते क्या हैं–तत्काल बदला लेने लगते हैं। जिसे शत्रु समझते हैं, क्रोधावेश में उसे भला-बुरा कहने लगते हैं, मारने लगते हैं। पर जब हम तत्काल कोई प्रतिक्रिया व्यक्त न कर मन में ही उसके प्रति क्रोध को इस भाव से दबा लेते हैं कि अभी मौका ठीक नहीं है, अभी प्रत्याक्रमण करने से हमें हानि हो सकती है, शत्रु प्रबल है, मौका लगने पर बदला लेंगे; तब वह क्रोध वैर का रूप धारण कर लेता है और वर्षों दबा रहता है तथा समय आने पर प्रकट हो जाता है।

ऊपर से देखने पर क्रोध की अपेक्षा यह विवेक का काम विरोधी नजर आता है, पर यह है क्रोध से भी अधिक खतरनाक; क्योंकि यह योजनाबद्ध विनाश करता है, जबकि क्रोध विनाश की योजना नहीं बनाता, तत्काल जो जैसा संभव होता है, कर गुजरता है। योजनाबद्ध विनाश सामान्य विनाश से अधिक खतरनाक और भयानक होता है।

यद्यपि जितनी तीव्रता और वेग क्रोध में देखने में आता है– उतना वैर में नहीं, तथापि क्रोध का काल बहुत कम है, जबकि वैर पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है।

क्रोध और भी अनेक रूपों में पाया जाता है। झल्लाहट, चिड़-चिड़ाहट, क्षोभ आदि भी क्रोध के ही रूप हैं। जब हमें किसी की कोई बात या काम पसन्द नहीं आता है और वह बात बार-बार हमारे सामने आती है तो हम झल्ला पड़ते हैं। बार-बार की झल्ला-हट चिड़चिड़ाहट में बदल जाती है। झल्लाहट और चिड़चिड़ाहट असफल क्रोध के परिणाम हैं। ये एक प्रकार से क्रोध के हलके-फुलके रूप हैं। क्षोभ भी क्रोध का ही अव्यक्त रूप है।

ये सभी विकार क्रोध के ही छोटे-बड़े रूप हैं। सभी मानसिक शान्ति को भंग करने वाले हैं, महानता की राह के रोड़े हैं। इनके रहते कोई भी व्यक्ति महान नहीं वन सकता, पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता। यदि हमें महान वनना है, पूर्णता को प्राप्त करना है तो इन पर विजय प्राप्त करनी ही होगी, इन्हें जीतना ही होगा। पर कैसे ? आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी के अनुसार –

"अज्ञान के कारण जब तक हमें पर-पदार्थ इष्ट-अनिष्ट प्रतिभासित होते रहेंगे तब तक क्रोधाधि की उत्पत्ति होती ही रहेगी, किन्तु जब तत्त्वाभ्यास के वल से पर-पदार्थों में से इष्ट-अनिष्ट वुद्धि समाप्त होगी तब स्वभावतः क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होगी।"

आशय यह है कि क्रोधादि की उत्पत्ति का मूल कारण, अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों को मानना है। जब हम अपने सुख-दुख का कारण अपने में खोजेंगे, उनका उत्तरदायी अपने को स्वीकारेंगे, तो फिर हम क्रोध करेंगे किस पर ?

अपने अच्छे-बुरे और सुख-दुख का कर्त्ता दूसरों को मानना ही क्रोधादि की उत्पत्ति का मूल कारण है।

क्षमा के साथ लगा उत्तम शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। सम्यग्दर्शन के साथ होने वाली क्षमा ही उत्तमक्षमा है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है – जवकि क्षमा का संवंध क्रोध के अभाव से है तो फिर उसका सम्यग्दर्शन से क्या संवंध ? यह शर्त क्यों – कि उत्तमक्षमा सम्यग्दृष्टि को ही होती है, मिथ्यादृष्टि को नहीं ? जिसको क्रोध नहीं हुआ उसके उत्तमक्षमा हो गई, चाहे वह मिथ्यादृष्टि हो या सम्यग्दृष्टि। मिथ्यादृष्टि के उत्तमक्षमा हो ही नहीं सकती, यह अनिवार्य शर्त्त क्यों ?

भाई ! वात ऐसी है कि क्रोध का अभाव आत्मा के आश्रय से होता है। मिथ्यादृष्टि के आत्मा का आश्रय नहीं है, अतः उसके क्रोध का अभाव नहीं हो सकता। इसलिए मिथ्यादृष्टि के क्रोध नहीं हुआ, यह वनता ही नहीं है। उसे जो 'क्रोध नहीं हुआ' ऐसा देखने में आता है, वह तो क्रोध का प्रदर्शन नहीं हुआ वाली वात है। क्योंकि कभी-कभी जव क्रोध मन्द होता है तो क्रोध का प्रदर्शन नहीं देखा जाता है, उसे ही अज्ञानी क्रोध का अभाव समझ लेते हैं और उत्तमक्षमा कहने लगते हैं। वस्तुतः वह उत्तमक्षमा नहीं, उत्तमक्षमा का भ्रम है।

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि मिथ्यादृष्टि के क्रोध का अभाव क्यों नहीं हो सकता ? उसके सदा अनन्तक्रोध क्यों रहता है ? इसका उत्तर यह है कि पर में कर्त्तृत्वबुद्धि से ही अनन्तानुवन्धी क्रोध उत्पन्न होता है। जब कोई परपदार्थ उसकी इच्छा के अनुकूल परिणमित नहीं होता है, तो वह उस पर क्रोधित हो उठता है। इसका अर्थ यह हुआ कि लोक में जो-जो परपदार्थ उसकी इच्छा के अनुकूल परिणमित न होंगे, वे सब उसके क्रोध के पात्र होंगे। परपदार्थ हैं अनन्त, अतः अभिप्राय में अनन्त परपदार्थ उसके क्रोध के पात्र हुए; यही है अनन्तानुवन्धी क्रोध, क्योंकि उसने अनन्त परपदार्थों से अनुबन्ध किया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मिथ्यादृष्टि के परपदार्थों में कर्त्तृत्व बुद्धि रहती है। इसकारण उसके क्रोधादि मंद भले ही हो जाएँ, किन्तु जब उसके अनन्तानुवन्धी कषाय का भी अभाव नहीं होता है तो उत्तमक्षमादि धर्म प्रकट कैसे हो सकते हैं ?

दूसरी बात यह भी तो है कि उत्तमक्षमादि दशधर्म सम्यक्-चारित्र के ही रूप हैं और सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन के बिना होता नहीं, इसलिए यह स्वतः सिद्ध है कि मिथ्यादृष्टि के उत्तमक्षमादि धर्म प्रकट नहीं हो सकते।

निश्चय से तो क्षमास्वभावी आत्मा के आश्रय से पर्याय में क्रोधरूप विकार की उत्पत्ति नहीं होना ही उत्तम क्षमा है; पर व्यवहार से क्रोधादि के निमित्त मिलने पर भी उत्तेजित नहीं होना, उनके प्रतिकाररूप प्रवृत्ति नहीं होने को भी उत्तमक्षमा कहा जाता है। दशलक्षण पूजन में उत्तमक्षमा का वर्णन करते हुए कविवर द्यानतरायजी ने कहा है :–

"गाली सुन मन खेद न आनौ, गुन को औगुन कहै वखानौ।
कहि है वखानौ वस्तु छीने, वाँध-मार वहुविधि करै।
घरतैं निकारै तन विदारै, वैर जो न तहाँ धरै॥"

उक्त छन्द में निमित्तों की प्रतिकूलता में भी जो शान्त रह सके, वही उत्तमक्षमा का धारी है; ऐसा कहा गया है। गाली सुनकर भी जिसके हृदय में खेद उत्पन्न न हो, वह उत्तमक्षमावान है।

वहुत से लोग ऐसा कहते पाये जाते हैं कि वैसे तो मेरा स्वभाव एकदम शांत है, पर कोई छेड़ दे तो फिर मुझसे शांत नहीं रहा जाता।

उनसे मेरा कहना है कि ऐसा कोई व्यक्ति बताइए कि जिसकी हम प्रशंसा करें और उसे क्रोध आवे। प्रशंसा सुनकर तो लोगों को मान आता है, क्रोध नहीं। क्षमा का धारी तो वह है, जिसे गालियाँ सुनकर भी क्रोध न आवे।

यहाँ तो और भी ऊँची बात की है। क्रोध की उग्रता तो दूर, मन में भी खेद तक उत्पन्न न हो, तब क्षमा है। किन्हीं बाह्य कारणों से क्रोध व्यक्त न भी करे, पर मन में खेद-खिन्न हो जावे तो भी क्षमा कहाँ रही? जैसे – मालिक ने मुनीम को डाँटा-फटकारा, तो नौकरी छूट जाने के भय से मुनीम में क्रोध के लक्षण तो प्रकट नहीं हुए, पर खेद-खिन्न हो गया तो वह क्षमा नहीं कहला सकती। इसीलिए तो लिखा है :– "गाली सुनि मन खेद न आनौ।"

जो 'गाली सुनकर चांटा मारे', वह काया की विकृति वाला है। 'गाली सुनकर गाली देवे', वह वचन की विकृति वाला है। 'गाली सुनकर खेद मन में लावे', वह मन की विकृति वाला है। परन्तु 'गाली सुन मन खेद न आवे', वह क्षमाधारी है।

इसके भी आगे कहते हैं कि 'गुन को औगुन कहै बखानौ।' हों हम में गुण, और सामने वाला औगुणरूप से वर्णन करे, और वह भी अकेले में नहीं – भरी सभा में, व्याख्यान में; फिर भी हम उत्तेजित न हों तो क्षमाधारी हैं।

कुछ लोग कहते हैं भाई! हम गालियाँ बर्दाश्त कर सकते हैं, पर यह कैसे संभव है कि जो दुर्गुण हममें हैं ही नहीं, उन्हें कहता फिरे। उन्हें भी अकेले में कहे तो किसी तरह सह भी लें, पर भरी सभा में, व्याख्यान में कहे तो फिर तो गुस्सा आ ही जाता है।

कवि इसी बात को तो स्पष्ट कर रहा है कि गुस्सा आ जाता है, तो वह क्षमा नहीं; क्रोध ही है। मान लो तब भी क्रोध न आवे, हम सोच लें – बकने वाले बकते हैं तो बकने दो, हमें क्या है? पर जब वह हमारी वस्तु छीनने लगे तब? वस्तु छीनने पर भी क्रोध न करें, पर वह हमें बाँध दे, मारे और भी अनेक प्रकार पीड़ा दे तब? इसी के उत्तर में कवि ने कहा है :– "वस्तु छीने, बाँध मार बहुविधि करै।"

'बहुविधि करै' शब्द में बहुत भाव भरा है। आप में जितनी सामर्थ्य हो इसका अर्थ निकालिए। आज पीड़ा देने के अनेक नए-नए उपाय निकाल लिए गए हैं। विदेशी जासूसों के पकड़े जाने पर उनसे शत्रुओं के गुप्त भेद उगलवाने के लिए अनेक प्रकार की अमानुषिक

पीड़ाएँ दी जाती हैं, जिनकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते हैं; 'वहुविधि करै' में वे सव आ जाती हैं। पीड़ा देने के जितने प्रकार आप कल्पना कर सकें, करिए; वे सव 'वहुविधि करै' में आ जावेंगे। फिर भी क्रोध न करें तव उत्तमक्षमा होगी, ऐसा कवि कहना चाहता है। वात यहीं पर समाप्त नहीं हुई, आगे भी वढ़ती है :–

"घरतैं निकारै तन विदारै, बैर जो न तहाँ धरै।"

कोई दुष्ट अनेक प्रकार पीड़ाएँ दे देकर चला जाए, पर वाद में हम घर में रहकर उपचार और आराम तो कर सकते हैं; पर जव वह हमें घर से ही निकाल दे, तव क्या करें? घर से भी निकाल दे, पर शरीर स्वस्थ है तो कहीं न कहीं कुछ न कुछ करके जीवन चला ही लेंगे। पर जव वह घर से भी निकाल दे और शरीर का भी विदारण कर दे, तव तो क्रोध आ ही जावेगा।

नहीं भाई! तव भी क्रोध न आवे तो उत्तमक्षमा है। तव भी कहाँ? मान लो क्रोध नहीं किया, पर मन में गाँठ वांध ली, वैर धारण कर लिया तो भी उत्तमक्षमा नहीं है।

क्रोध और वैर के वारे में पहले स्पष्टीकरण किया जा चुका है। क्रोध किया जाता है और वैर धारण किया जाता है अर्थात् क्रोध में तत्काल प्रतिक्रिया होती है और वैर में मन में गाँठ वाँध ली जाती है।

वैर आग है और आग जहाँ रखी जाएगी पहिले उसे जलाएगी, वाद में दूसरे को जलाए चाहे न जलाए। अतः वैर भी – जो धारण करता है, उसे ही जलाता है; जिसके प्रति वैर धारण किया है, उसे चाहे जला पाये अथवा नहीं भी; क्योंकि उसका भला-वुरा तो उसके पुण्य-पाप के उदय के आधीन है।

अतः यहाँ क्रोध के अभाव के साथ-साथ वैर के अभाव को उत्तमक्षमा कहा है।

पर ये सव वातें व्यवहार की हैं। निश्चय से तो वाह्य निमित्तों की प्रतिकूलताओं पर भी मात्र क्रोध की प्रवृत्ति दिखाई नहीं देना उत्तमक्षमा नहीं है। हो सकता है कि वाह्य में क्रोधादि की प्रवृत्ति न भी दिखाई दे और अन्तर में उत्तमक्षमा का विरोधी क्रोधभाव विद्यमान हो – तथा अन्तर में आंशिक उत्तमक्षमा विद्यमान रहे, फिर भी वाह्य में क्रोधादि में प्रवृत्ति दिखाई दे।

अतः निश्चय उत्तमक्षमा समझने के लिए कुछ गहराई में जाना होगा।

शास्त्रों में क्रोध चार प्रकार का कहा गया है। (१) अनन्तानुबन्धी (२) अप्रत्याख्यान (३) प्रत्याख्यान, और (४) संज्वलन। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि के अनन्तानुवन्धी क्रोध का अभाव हो गया है, अतः उसे तत्सम्वन्धी उत्तम क्षमाभाव प्रकट हो गया है। पंचम गुणस्थानवर्ती अणुव्रती के अनन्तानुवन्धी और अप्रत्याख्यानसम्वन्धी क्रोध के अभावजन्य उत्तमक्षमा विद्यमान है तथा छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती महाव्रती मुनिराजों के अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान सम्वन्धी क्रोध का अभाव होने से वे तीनों के अभाव संबंधी उत्तमक्षमा के धारक हैं। नौवें-दसवें गुणस्थान से ऊपर वाले तो पूर्ण उत्तमक्षमा के धारक हैं।

उक्त कथन शास्त्रीय भाषा में हुआ, अतः शास्त्रों के अभ्यासी ही समझ पाएँगे। इस सव का तात्पर्य यह है कि उत्तमक्षमा आदि का नाप बाहर से नहीं किया जा सकता है। कषायों की मंदता और तीव्रता पर उत्तमक्षमा आधारित नहीं है, उसका आधार तो उक्त कषायों का क्रमशः अभाव है। कषायों की मंदता-तीव्रता के आधार पर जो भेद पड़ता है वह तो लेश्या है।

यद्यपि व्यवहार से मंदकषाय वाले को भी उत्तमक्षमादि का धारण करने वाला कहा जाता है, पर अन्तर की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा भी हो सकता है कि वह बाहर से तो विल्कुल शान्त दिखाई दे किन्तु अन्तर में अनंत क्रोधी हो अर्थात् अनन्तानुवन्धी का क्रोधी हो। नववें ग्रैवेयक तक पहुँचने वाले मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि बाहर से इतने शान्त दिखाई देते हैं कि उनकी खाल खींचकर नमक छिड़कें तव भी उनकी आँख की कोर लाल न हो, फिर भी शास्त्रकारों ने कहा है कि वे उत्तमक्षमा के धारक नहीं हैं, अनन्तानुवन्धी के क्रोधी हैं, क्योंकि उनके अन्तर से आत्मा की अरुचिरूपी क्रोध का अभाव नहीं हुआ है। वाह्य में जो क्रोध का अभाव दिखाई देता है उसका कारण आत्मा के आश्रय से उत्पन्न शान्ति नहीं है, वरन् जिस चिन्तन के आधार पर वे शान्त रहे हैं, वह पराश्रित ही रहता है। जैसे—वे सोचते हैं कि यदि मैं साधु हुआ हूँ तो मुझे शान्त रहना ही चाहिए। यदि शान्त नहीं रहूँगा तो लोग क्या कहेंगे? इस भव में मेरी वदनामी होगी और पाप का वंध होगा तो अगला भव भी विगड़ जायगा। यदि शान्त रहूँगा तो अभी प्रशंसा होगी और पुण्यवंध होगा तो आगे भी सुख की प्राप्ति होगी।

इसीप्रकार का कोई न कोई यशादि का लोभ व अपयश आदि का भय अथवा पुण्य की रुचि और पाप की अरुचि ही उनकी शान्ति का आधार रहती है या फिर शास्त्रों में लिखा है कि मुनिराज को क्रोध नहीं करना चाहिए, शान्त रहना चाहिए – आदि किसी न किसी बाह्य आधार को पकड़ कर ही शान्त रहते हैं, उनकी शान्ति का आधार आत्मा नहीं बनता है।

तथा कोई ज्ञानी चारित्रमोह के दोष से बाहर में क्रोध करता भी दिखाई दे, फिर भी उत्तमक्षमा का धारक हो सकता है। जैसे— आचार्यमहाराज मुनिराज को डांटते भी दिखाई दें, उन्हें दण्ड भी दे रहे हों, उत्तेजित भी दिखाई दे रहे हों; फिर भी वे उत्तमक्षमा के धारक हैं– क्योंकि उनके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोध का अभाव है, आत्मा का आश्रय विद्यमान है। अणुव्रती या अविरतसम्यग्दृष्टि गृहस्थ तो और भी अधिक बाह्य में क्रोध करता दिखाई दे सकता है। अव्रती परन्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टि भरतचक्रवर्ती बाहुबली पर चक्र चलाते समय भी अनन्तानुबन्धी के क्रोधी नहीं थे।

अतः उत्तमक्षमा का निर्णय बाह्य प्रवृत्ति के आधार पर नहीं किया जा सकता।

अनन्तानुबंधी क्रोध के अभाव से उत्तमक्षमा प्रकट होती है और अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान क्रोध का अभाव उत्तमक्षमा को पल्लवित करता है तथा संज्वलन क्रोध का अभाव उत्तमक्षमा को पूर्णता प्रदान करता है।

अनन्त संसार का अनुबन्ध करने वाला अनन्तानुबंधी क्रोध आत्मा के प्रति अरुचि का नाम है। ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा की अरुचि ही अनन्तानुबंधी क्रोध है।

जब हमें किसी व्यक्ति के प्रति अनन्त क्रोध होता है तो हम उसकी शकल भी देखना पसंद नहीं करते, उसकी बात करना-सुनना पसंद नहीं करते। कोई तीसरा व्यक्ति उसकी चर्चा हमसे करे तो हमें वह भी बर्दाश्त नहीं होती, उसकी प्रशंसा सुनना तो बहुत दूर की बात है।

इसीप्रकार जिन्हें आत्मदर्शन की रुचि नहीं है, जिन्हें आत्मा की बात करना-सुनना पसंद नहीं है, जिन्हें आत्मचर्चा ही नहीं, आत्मचर्चा करने वाले भी नहीं सुहाते; वे सब अनन्तानुबंधी के क्रोधी हैं—क्योंकि

उन्हें आत्मा के प्रति अनन्त क्रोध है, तभी तो उन्हें आत्मचर्चा नहीं सुहाती ।

हमने पर को तो अनन्त वार क्षमा किया, पर आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई ! एक वार अपनी आत्मा को भी क्षमा करदे, उसकी ओर देख, उसकी भी सुध ले । अनादि से पर को परखने में ही अनन्त काल गमाया है । एक वार अपनी आत्मा को भी देख, जान, परख; सहज ही उत्तमक्षमा तेरे घट में प्रकट हो जावेगी ।

आत्मा का अनुभव ही उत्तमक्षमा की प्राप्ति का वास्तविक उपाय है । क्षमास्वभावी आत्मा का अनुभव करने पर, आश्रय करने पर ही पर्याय में उत्तमक्षमा प्रकट होती है ।

आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि ज्ञानीजीव को उत्तमक्षमा प्रकट होती है, और आत्मानुभव की वृद्धि वालों को ही उत्तमक्षमा बढ़ती है, तथा आत्मा में ही अनन्तकाल को समा जाने वालों में उत्तमक्षमा पूर्णता को प्राप्त होती है ।

अविरतसम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, महाव्रती और अरहन्त भगवान में उत्तमक्षमा का परिमाणात्मक (Quantity) भेद है, गुणात्मक (Quality) भेद नहीं । उत्तमक्षमा दो प्रकार की नहीं होती, उसका कथन भले दो प्रकार किया जाय । उसको जीवन में उतारने के स्तर तो दो से भी अधिक हो सकते हैं । निश्चयक्षमा और व्यवहारक्षमा कथन-शैली के भेद हैं, उत्तमक्षमा के नहीं । इसी प्रकार अविरतसम्यग्दृष्टि की क्षमा, अणुव्रती की क्षमा, महाव्रती की क्षमा, अरहन्त की क्षमा – ये सब क्षमा को जीवन में उतारने के स्तर के भेद हैं, उत्तमक्षमा के नहीं; वह तो एक अभेद है ।

उत्तमक्षमा तो एक अकषायभावरूप है, वीतरागभावस्वरूप है, शुद्धभावरूप है । वह कषायरूप नहीं, रागभावस्वरूप नहीं, शुभाशुभ भावरूप नहीं; बल्कि इनके अभावरूप है ।

क्षमास्वभावी आत्मा के आश्रय से समस्त प्राणियों को उत्तम क्षमाधर्म प्रकट हो, और सभी अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा का अनुभव कर पूर्ण सुखी हों, इसी पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ ।

उत्तममार्दव

क्षमा के समान मार्दव भी आत्मा का स्वभाव है। मार्दवस्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा में जो मान के अभावरूप शान्ति-स्वरूप पर्याय प्रकट होती है, उसे भी मार्दव कहते हैं। यद्यपि आत्मा मार्दवस्वभावी है तथापि अनादि से आत्मा में मार्दव के अभावरूप मानकषायरूप पर्याय ही प्रकटरूप से विद्यमान है।

'मृदोर्भाव: मार्दवम्' मृदुता-कोमलता का नाम मार्दव है। मान कषाय के कारण आत्मस्वभाव में विद्यमान कोमलता का अभाव हो जाता है। उसमें एक अकड़-सी उत्पन्न हो जाती है। मानकषाय के कारण मानी अपने को बड़ा और दूसरों को छोटा मानने लगता है। उसमें समुचित विनय का भी अभाव हो जाता है। मानी जीव हमेशा अपने को ऊँचा और दूसरों को नीचा करने का प्रयत्न किया करता है। मान के खातिर वह क्या नहीं करता? छल-कपट करता है, मान भंग होने पर क्रोधित हो उठता है। सम्मान प्राप्ति के लिए सब कुछ करने को तैयार रहता है। यहाँ तक कि जिन धनादि पदार्थों का संग्रह मौत की कीमत पर करता है, उन्हें भी पानी की तरह बहाने को तैयार हो जाता है। घर-बार, स्त्री-पुत्रादि सब कुछ छोड़ देने पर भी मान नहीं छूटता। अच्छे-अच्छे तथाकथित महात्माओं को आसन की ऊँचाई के लिए झगड़ते देखा जा सकता है, नमस्कार न करने पर उखड़ते देखा जा सकता है। यह सब मान कषाय की ही विचित्र महिमा है।

मानी जीव की प्रवृत्ति का चित्रण महापंडित टोडरमलजी ने इसप्रकार किया है :–

"जब इसके मानकषाय उत्पन्न होती है तब औरों को नीचा व अपने को ऊँचा दिखाने की इच्छा होती है और उसके अर्थ अनेक उपाय सोचता है। अन्य की निंदा करता है, अपनी प्रशंसा करता है व अनेक प्रकार से औरों की महिमा मिटाता है, अपनी महिमा करता है। महाकष्ट से जो धनादिक का संग्रह किया उसे विवाहादि कार्यों में खर्च करता है तथा कर्ज लेकर भी खर्चता है। मरने के बाद हमारा यश रहेगा ऐसा विचारकर अपना मरण करके भी अपनी महिमा बढ़ाता है। यदि कोई अपना सम्मानादिक न करे तो उसे भयादिक

दिखाकर दुख उत्पन्न करके अपना सम्मान कराता है। तथा मान होने पर कोई पूज्य-बड़े हों उनका भी सम्मान नहीं करता, कुछ विचार नहीं रहता। यदि अन्य नीचा और स्वयं ऊँचा दिखाई न दे, तो अपने अन्तरंग में आप बहुत सन्तापवान होता है और अपने अंगों का घात करता है तथा विष आदि से मर जाता है। – ऐसी अवस्था मान होने पर होती है।"[1]

कषायों में मान का दूसरा नम्बर है, क्रोध का पहिला। दश धर्मों में भी उत्तमक्षमा के बाद ही उत्तममार्दव आता है। इसका भी कारण है। यद्यपि क्रोध और मान दोनों द्वेषरूप होते हैं तथापि इनकी प्रकृति में भेद है। जब कोई हमें गाली देता है तो क्रोध आता है, पर जब प्रशंसा करता है तो मान हो जाता है। दुनियाँ में तो निंदा और प्रशंसा सुनने को मिलती ही रहती है। अज्ञानी दोनों स्थितियों में कषाय करता है।

जिसप्रकार जिनका शारीरिक स्वास्थ्य कमजोर होता है, उन्हें ठंडी और गरम दोनों प्रकार की हवाएँ परेशान करती हैं, गरम हवा में उन्हें लू लग जाती है और ठंडी हवा से जुखाम हो जाता है; उसीप्रकार जिनका आत्मिक स्वास्थ्य कमजोर होता है, उन्हें निंदा और प्रशंसा दोनों ही परेशान करते हैं। निंदा की गरम हवा लगने से उन्हें क्रोध की लू लग जाती है और प्रशंसा की ठंडी हवा लगने से मान का जुखाम हो जाता है।

निंदा शत्रु करते हैं और प्रशंसा मित्र। अतः क्रोध के निमित्त बनते हैं शत्रु और मान के निमित्त बनते हैं मित्र।

विरोधियों की एक आदत होती है – विद्यमान गुणों की चर्चा तक न करना और अविद्यमान अवगुणों की बढ़ा-चढ़ाकर चर्चा करना। अनुकूलों की भी एक आदत होती है, वे भी एक कमजोरी के शिकार होते हैं – वे विद्यमान अवगुणों की चर्चा तक नहीं करते, बल्कि अल्प गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर बखान करते हैं, कभी-कभी अविद्यमान गुणों को भी कहने लगते हैं। कम्पाउंडर को डॉक्टर और मुंशी को वकील साहब कहना इसी वृत्ति का परिणाम है।

दोनों ही वृत्तियाँ खोटी हैं, क्योंकि वे क्रमशः क्रोध और मान के अनुकूल हैं।

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ५३

ऐसे लोग दुनियाँ में भले ही कम मिलें जो गुणों को अवगुण रूप में प्रस्तुत करें, पर ऐसे चापलूस पग-पग पर मिलेंगे जो छोटे से गुण को वढ़ा-चढ़ाकर कहते हैं। लखपति को करोड़पति कहना साधारण-सी वात है।

एक वात यह भी है कि निंदा करने वाले प्राय: पीठ-पीछे निंदा करते हैं, मुँह के सामने निंदा करने वाले वहुत कम मिलेंगे; पर प्रशंसा अधिकतर मुँह पर ही की जाती है, पीठ-पीछे वहुत कम। वे लोग वड़े ही भाग्यशाली हैं जिनकी प्रशंसा लोग पीठ-पीछे भी करें।

अत: प्रशंसा निंदा से अधिक खतरनाक है।

प्रतिकूलता में क्रोध और अनुकूलता में मान आता है। असफलता क्रोध और सफलता मान की जननी है। यही कारण है कि असफल व्यक्ति क्रोधी होता है और सफल मानी। जव कोई व्यक्ति किसी काम में असफल हो जाता है तो वह उन स्थितियों पर क्रोधित हो उठता है जिन्हें वह असफलता का कारण समझता है और सफल होने पर सफलता का श्रेय स्वयं लेकर अभिमान करने लगता है।

यद्यपि मान भी क्रोध के समान खतरनाक विकार है, पर लोग उसे न जाने क्यों कुछ प्यार करते हैं? मानपत्र सवके घरों में टंगे मिल जावेंगे, किसी के घर पर क्रोधपत्र नहीं मिलेगा। क्रोधपत्र कोई किसी को देता भी नहीं है, और कोई देगा भी तो कोई लेगा नहीं, घर में लगाने की वात तो वहुत दूर है। पर लोग मानपत्र वड़ी शान से लेते हैं और उसे वड़े ही प्यार से घर में लगाते हैं। वहुत लोग तो उसे ज्ञान-पत्र समझते हैं जवकि उस पर साफ-साफ लिखा रहता है मान-पत्र। इतने से भी सन्तोष नहीं होता है तो फिर उसे अखवारों में पूरा का पूरा छपाते हैं, चाहे उसका विज्ञापन चार्ज ही क्यों न देना पड़े।

यदि कभी मानपत्र मिल जाता है तो उसे संभाल कर रखते हैं, पर अपमान तो अनेक वार मिला है पर..........। पुण्यहीनों का मान से अधिक अपमान ही होता है।

मान एक मीठा जहर है, जो मिलने पर अच्छा लगता है, पर है वहुत दुखदायक। दुखदायक क्या दुखरूप ही है, क्योंकि है तो आखिर कषाय ही।

यद्यपि मान भी क्रोध के समान ही आत्मा का अहित करने वाला विकार है तथापि वाह्य में क्रोध के समान सर्व-विनाशक नहीं।

जिस पर हमें क्रोध आता है हम उसे नष्ट कर डालना चाहते हैं, पूर्णतः वरवाद कर देना चाहते है; पर जिसके लक्ष्य से मान होता है उसे नष्ट नहीं करना चाहते वरन् उसे कायम रखना चाहते हैं, पर अपने से कुछ छोटेरूप में।

क्रोधी को विरोधी की सत्ता ही स्वीकृत नहीं होती, जवकि मानी को भीड़ चाहिए, नीचे वैठने वाले चाहिए, जिनसे वह कुछ ऊँचा दिखे। मानी को मान की पुष्टि के लिए एक सभा चाहिये जिसमें सब नीचे बैठे हों और वह सबसे कुछ ऊँचा। अतः मानी दूसरों को भी रखना चाहता है पर अपने से कुछ नीचे, क्योंकि मान की प्रकृति ऊँचा दिखने की है और ऊँचाई एक सापेक्ष स्थिति है। कोई नीचा हो तो ऊँचे का व्यवहार वनता है। ऊँचाई के लिए नीचाई और नीचाई के लिए ऊँचाई चाहिये।

क्रोधी क्रोध के निमित्त को हटाना चाहता है, पर मानी मान के निमित्तों को रखना चाहता है। क्रोधी कहता है—गोली से उड़ा दो, मार दो; पर मानी कहता है—नहीं; मारो मत, पर जरा दवाकर रखो।

जागीरदार लोग गाँव में किसी को पांव में सोना नहीं पहिनने देते थे, उनके मकान से ऊँचा मकान नहीं बनाने देते थे, क्योंकि उनके मकान से दूसरे का मकान वड़ा हो जाए तो उनका मान खण्डित हो जाता था।

क्रोधी वियोग चाहता है पर मानी संयोग। यदि मुझे सभा में क्रोध आ जाय तो मैं उठकर भाग जाऊँगा और यदि वश चलेगा तो सवको भगा दूँगा। पर यदि मान आवे तो भागूँगा नहीं और सवको भगाऊँगा भी नहीं, पर नीचे विठाऊँगा और मैं स्वयं ऊपर वैठना चाहूँगा। मान की प्रकृति भगाने की नहीं, दवाकर रखने की, नीचे रखने की है; जवकि क्रोध की प्रकृति खत्म करने की है।

यही कारण है कि क्रोध नम्वर एक की कषाय है और मान नम्वर दो की।

मान के अनेक रूप होते हैं। कुछ रूप तो ऐसे होते हैं जिन्हें वहुत से लोग मान मानते ही नहीं। दीनता मान का एक ऐसा ही रूप है जिसे लोग मान नहीं मानना चाहते। दीन को मानी-अभिमानी मानने को उनका दिल स्वीकार नहीं करता। वे कहते हैं दीन तो दीन है, वह मानी कैसे हो सकता है?

यदि मार्दवधर्म के अभाव का नाम मानकषाय और मान कषाय के अभाव का नाम मार्दवधर्म है तो फिर दीनता को मान मानना ही होगा, क्योंकि यदि उसे मान न माना जायगा तो मान के अभाव में दीनता मार्दव हो जावेगी।

क्यों ? कैसे ?

देखिये – मान आठ चीजों के आश्रय से होता है :–

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं वलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ।।[१]

ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, वल, ऋद्धि, तप, और शरीर – इन आठ वस्तुओं के आश्रय से जो मान किया जाता है, उसे मानरहित भगवान मान कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि क्रोध या मान कोई भी विकार हवा में नहीं होता, किसी न किसी के आश्रय से होता है। आश्रय का अर्थ है लक्ष्य। अर्थात् जव हमें क्रोध आता है तो वह किसी न किसी पर, किसी न किसी के लक्ष्य से होता है। ऐसा नहीं कि क्रोध आने पर पूछा जाय कि किस पर आ रहा है तो कहे किसी पर नहीं, वैसे ही आ रहा है – ऐसा नहीं होता। क्रोध किसी न किसी पर ही आता है। उसीप्रकार मान भी किसी न किसी वस्तु के आश्रय से ही होता है। जिन वस्तुओं के आश्रय से मान होता है, उन्हें आठ भागों में वर्गीकृत किया गया है।

'मैं ज्ञानी हूँ' इस विकल्प के आश्रय से होने वाले मान को ज्ञानमद कहते हैं। इसीप्रकार कुल, जाति, धन, वल आदि के आश्रय से कुलमद, जातिमद, धनमद, वलमद आदि होते हैं।

अधिकांश लोगों की मान्यता ऐसी पाई जाती है कि धनमद धनवालों को ही होता है, गरीवों को नहीं। उनका कहना है कि गरीवों के पास धन है ही नहीं, तो उन्हें धनमद कैसे हो सकता है ? इसीप्रकार रूपमद रूपवालों को होगा, कुरूपों को नहीं। वलमद वलवानों को होगा, निर्वलों को नहीं। इसीप्रकार अन्य भी समझ लेना चाहिये।

उनकी यह वात ऊपर से कुछ जँचती भी है, पर गम्भीरता से विचार करने पर प्रतीत होता है कि यह वात युक्तिसंगत नहीं है।

---

[१] आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक २५

क्योंकि यदि धनमद धनवालों को ही होगा, वलमद वलवानों को ही होगा, रूपमद रूपवान को ही होगा तो फिर ज्ञानमद ज्ञानवान को ही होना चाहिए; जवकि ज्ञानमद ज्ञानी को नहीं, अज्ञानी को होता है। ज्ञानमद ही क्यों, आठों ही मद अज्ञानी को ही होते हैं, ज्ञानी को नहीं।

जव ज्ञानमद अज्ञानी को हो सकता है तो धनमद निर्धन को क्यों नहीं, रूपमद कुरूप को क्यों नहीं ? इसीप्रकार बलमद निर्वल को क्यों नहीं ? आदि।

दूसरी वात यह है कि मान लो एक व्यक्ति ऐसा है जिसके पास न तो धन है, न वल है; न ही वह रूपवान है, न ही ऐश्वर्यवान है, न ही ज्ञानी एवं तपस्वी ही है; उच्च जाति एवं उच्च कुलवाला भी नहीं है तो उसके तो कोई मद होगा ही नहीं, उसे किसी भी प्रकार का मान होगा नहीं; उसे तो फिर मानकषाय के अभाव में मार्दव धर्म का धनी मानना होगा। शायद यह आपको भी स्वीकार न होगा ? क्योंकि इस स्थिति में जो धर्म का नाम भी नहीं जानते ऐसे दीन-हीन, कुरूप, निर्बल, नीच जाति कुल वाले अज्ञानी जन के भी मार्दवधर्म की उपस्थिति माननी होगी, जो कि सम्भव नहीं है।

वस्तुतः स्थिति यह है कि धन के संयोग से अपने को बड़ा माने वह मानी। मात्र धन के होने से कोई मानी नहीं हो जाता, पर उसके होने से अपने को बड़ा मानकर मान करने से मानी होता है। इसी प्रकार धन के न होने से या कम होने से अपने को छोटा माने वह दीन है, मात्र धन की कमी या अभाव से कोई दीन नहीं हो जाता – हो जावे तो मुनिराजों को दीन मानना होगा, क्योंकि उनके पास तो धन होता ही नहीं, वे रखते ही नहीं। वे तो मार्दवधर्म के धनी हैं, वे दीन कैसे हो सकते हैं ? धन के अभाव से अपने को छोटा अनुभव कर दीनता लावे तो दीन होता है।

धनादि के अभाव में भी धनादिमदों की उपस्थिति मानने में हमें परेशानी इसलिए होती है कि हम धनादि के संयोग से मान की उत्पत्ति मान लेते हैं। हम मान का नाप पर से करते हैं। मानकषाय और मार्दवधर्म दोनों ही आत्मा की पर्यायें हैं, अतः उनका नाप अपने से ही होना चाहिए, पर से नहीं।

दूध लीटर से नापा जाता है और कपड़ा मीटर से। यदि कोई कहे दो लीटर कपड़ा दे देना या दो मीटर दूध देना तो दुनियाँ उसे मूर्ख ही समझेगी, क्योंकि ऐसा वोलने वाला न तो लीटर को ही

समभता है और न मीटर को ही, या फिर वह दूध और कपड़ा दोनों से अपरिचित है अन्यथा लीटरों में कपड़ा और मीटरों में दूध क्यों मांगता ?

आत्मा के धर्म मार्दवादि और अधर्म मानादि को भी परपदार्थों से क्यों नापना ? धनादि परपदार्थों के संयोग मात्र से मानकषाय एवं उनके अभाव से मार्दवधर्म को मानने वाले न तो मानकषाय को ही समभते हैं और न मार्दवधर्म को ही। भले ही वे मानकषाय करते हों, पर उसका सही स्वरूप नहीं समभते। ऐसा भी सम्भव है कि धनादि का संयोग हो, पर धनमद न हो। अज्ञानी को धनादि का संयोग न होने पर भी नियम से धनादिमद होते हैं, क्योंकि जब तक सम्यग्दर्शन नहीं हुआ, आत्मा का अनुभव नहीं हुआ, तब तक धनादिमदों की उपस्थिति अनिवार्य है, भले ही वह बाह्य में अभिमान करता दिखाई न भी दे।

मान और दीनता दोनों ही मार्दवधर्म के विरोधी भाव हैं। अतः दोनों ही मद (मान) के ही रूप हैं। जब मार्दव के अभाव को मान या मान के अभाव को मार्दव कहा जाता है – कम से कम तब निश्चितरूप से 'मान' शब्द में दीनता को भी शामिल मानना होगा, अन्यथा मार्दवधर्म वालों के दीनता का अभाव मानना संभव न होगा।

'ज्ञानी के ज्ञानमद नहीं होता और अज्ञानी के होता है।' इससे भी एक बात प्रकट होती है कि मान जिसका होता है उसकी सत्ता हो ही, यह आवश्यक नहीं। अतः धनमद होने के लिए धन की उपस्थिति आवश्यक नहीं।

धनादि का व्यवहार तो मात्र मनुष्यगति में ही पाया जाता है और मान चारों ही गतियों में पाया जाता है। कुल-जाति का व्यवहार भी मनुष्य-व्यवहार है। मान को मात्र मनुष्य-व्यवहार तक सीमित रख कर नहीं, विस्तृत सीमा में समभना होगा।

इसमें मूल बात ध्यान देने की यह है कि अज्ञानी ने अपना नाप अपने से नहीं किया वरन् धनादि के संयोग से किया। धन के संयोग से अपने को बड़ा माना और उसकी कमी या अभाव से अपने को छोटा माना। पर के कारण चाहे अपने को छोटा माने या बड़ा – दोनों ही मान हैं। इस कारण मानी तो मानी है ही, दीन भी मानी ही है।

लौकिक दृष्टि से भले ही उसमें भेद हो, पर आध्यात्मिक दृष्टि से विशेषकर मार्दवधर्म के सन्दर्भ में अभिमान और दीनता दोनों मान के ही रूप हैं, उनमें कोई विशेष भेद नहीं। मार्दवधर्म दोनों के ही अभाव में उत्पन्न होने वाली स्थिति है।

अभिमान और दीनता दोनों में अकड़ है; मार्दवधर्म की कोमलता, सहजता दोनों में ही नहीं है। मानी पीछे को झुकता है, दीन आगे को; सीधे दोनों ही नहीं रहते। मानी ऐसे चलता है जैसे वह चौड़ा हो और बाजार सकड़ा एवं दीन ऐसे चलता है जैसे वह भारी बोझ से दबा जा रहा हो।

अतः यह एक निश्चित तथ्य है कि अभिमान और दीनता दोनों ही विकार हैं, आत्म-शान्ति को भंग करने वाले हैं और दोनों के अभाव का नाम ही मार्दवधर्म है।

समानता आने पर मान जाता है। मार्दवधर्म में समानता का तत्त्व विद्यमान है। 'सभी आत्माएँ समान हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं।' यह मान्यता सहज ही मानकषाय को कम करती है, क्योंकि बड़प्पन के भाव का नाम ही तो मान है। 'मैं बड़ा और जगत छोटा' – यह भाव मानस्वरूप है। तथा 'मैं छोटा और जगत बड़ा' – यह भाव दीनतारूप है; यह भी मान का ही रूपान्तर है – जैसाकि पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

आर्हतमत में 'मेरा स्वरूप सिद्ध समान है' कहकर भगवान को भी समानता के सिद्धान्त के भीतर ले लिया गया है। 'मैं किसी से बड़ा नहीं' मानने वाले को मान एवं 'मैं किसी से छोटा नहीं' मानने वाले को दीनता आना सम्भव नहीं।

छोटे-बड़े का भाव मान है और समानता का भाव मार्दव। सब समान हैं, फिर मान कैसा? पर हमने 'स' छोड़कर 'मान' रख लिया है। यदि मान हटाना है तो सबमें विद्यमान समानता को जानिए, मानिए; मान स्वयं भाग जाएगा और सहज ही मार्दवधर्म प्रकट होगा।

जैसा हो वैसा अपने को मानने का नाम मान नहीं है, क्योंकि उसका नाम तो सत्यश्रद्धान, सत्यज्ञान है। बल्कि जैसा है नहीं वैसा माननेसे, तथा जैसा है नहीं वैसा मानकर अभिमान या दीनता करने से मान होता है, मार्दवधर्म खण्डित होता है। यदि मात्र अपने को

ज्ञानी मानने से मान होता हो, तो फिर ज्ञानी को भी ज्ञानमद मानना होगा क्योंकि वह भी तो अपने को ज्ञानी मानता है। केवलज्ञानी भी अपने को केवलज्ञानी मानते – जानते हैं, तो क्या वे भी मानी हैं ?

नहीं, कदापि नहीं। ज्ञानमद केवलज्ञानी को नहीं होता, क्षयोपक्षम ज्ञान वालों को होता है। क्षयोपशम ज्ञान वालों में भी ज्ञानमद सम्यग्ज्ञानी को नहीं, मिथ्याज्ञानी को होता है। मिथ्याज्ञानी को अज्ञानी भी कहा जाता है।

संयोग को संयोगरूप जानने से भी मान नहीं होता, क्योंकि सम्यग्ज्ञानी-चक्रवर्ती अपने को चक्रवर्ती जानता ही है, मानता भी है; किन्तु साथ में यह भी जानता है कि यह सब संयोग है, मैं तो इनसे भिन्न निराला तत्त्व हूँ। यही कारण है कि उसके अनन्तानुबन्धी का मान नहीं होता। यद्यपि कमजोरी के कारण अप्रत्याख्यानादि का मान रहता है तथापि मान के साथ एकत्वबुद्धि का अभाव है, अतः उसके आंशिकरूप से मार्दवधर्म विद्यमान है।

अनन्तानुबन्धी मान का मूल कारण शरीरादि परपदार्थ एवं अपनी विकारी और अल्पविकसित अवस्थाओं में एकत्वबुद्धि है। मुख्यतः हम इसे शरीर के साथ एकत्वबुद्धि के आधार पर समझ सकते हैं – क्योंकि रूपमद, कुलमद, जातिमद, बलादिमद शरीर से ही सम्बन्ध रखते हैं। रूपमद शरीर की कुरूपता और सुरूपता के आश्रय से ही होता है। इसीप्रकार बलमद भी शरीर के बल से सम्बन्धित है तथा जाति और कुल का निर्णय भी जन्म से सम्बन्ध रखने के कारण शरीर से ही जुड़ जाता है।

जो व्यक्ति शरीर को ही अपने से भिन्न पदार्थ मानता है, जानता है, उसमें अपनत्व भी नहीं रखता; वह शरीर के सुन्दर होने से अपने को सुन्दर कैसे मान सकता है ? इसीप्रकार उसके कुरूप होने से भी अपने को कुरूप कैसे मानेगा ?

दूसरी बात यह भी तो है कि ज्ञानी इनकी क्षणभंगुरता से भली-भाँति परिचित होता है। अतः इनके आश्रय से उसे मान कैसे हो सकता है ? शरीरादि संयोग पल-पल में विकृत और विनष्ट होने वाले हैं। क्या पता अभी सुन्दर दिखने वाला शरीर कब असुन्दर हो जावे। ऐश्वर्य का भी क्या भरोसा ? प्रातः के श्रीमंत को सायं होने के पहले श्रीविहीन होते देखा जा सकता है। अपनी भुजाओं से

मोटर रोक देने वाले गामा पहलवान के बाजुओं में मरते समय मक्खी उड़ाने की भी शक्ति न रही थी। क्या कोई दावे के साथ कह सकता है कि जो शक्ति, जो सौंदर्य और जो सम्पत्ति आज उसके पास है वह कल भी रहेगी ? काया और माया को बिखरते क्या देर लगती है ? ऐसी स्थिति में मान क्या किया जाय और किस पर किया जाय ?

इसीप्रकार जाति, कुलादि पर भी घटित कर लेना चाहिये।

ऐश्वर्यमद बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध रखता है तथा ज्ञानमद आत्मा की अल्पविकसित अवस्था के आश्रय से होने वाला मद है। जिसे अपनी पूर्णविकसित पर्याय केवलज्ञान का पता है, उसे क्षयोपशमरूप अल्पज्ञान का अभिमान कैसे हो सकता है ? कहाँ भगवान का अनन्तज्ञान और कहाँ अपना उसका अनन्तवाँ भाग ज्ञान, क्या करना उसका अभिमान ? और क्षयोपशम ज्ञान क्षणभंगुर भी तो है। अच्छा-भला पढ़ा-लिखा आदमी क्षण भर में पागल भी तो हो सकता है ?

धन-जन-तन आदि संयोगों के आधार पर किया गया मान अन्ततः खण्डित होना ही है; क्योंकि संयोग का वियोग निश्चित है, अतः संयोग का मान करने वाले का मान खण्डित होना भी निश्चित है।

मार्दवधर्म की प्राप्ति के लिए देहादि में से एकत्वबुद्धि तोड़नी होगी। देहादि में एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व के कारण होती है, अतः सर्वप्रथम मिथ्यात्व का ही अभाव करना होगा, तभी उत्तमक्षमा-मार्दवादि धर्म प्रकट होंगे, अन्य कोई मार्ग नहीं है। मिथ्यात्व का अभाव आत्मदर्शन से होता है; अतः आत्मदर्शन ही एक मात्र कर्त्तव्य है; उत्तमक्षमामार्दवादि धर्म अर्थात् सुख-शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।

देहादि में परबुद्धि के साथ-साथ आत्मा में उत्पन्न होने वाली क्रोधमानादि कषायों में हेयबुद्धि भी होनी चाहिये। उनमें हेयबुद्धि हुए बिना उनका अभाव होना सम्भव नहीं है। यद्यपि अज्ञानी भी कहता तो यही है – मान खोटी चीज़ है इसे छोड़ना चाहिए तथापि उसके अन्तर में मानादि के प्रति उपादेयबुद्धि बनी रहती है। हेय तो शास्त्रों में लिखा है इसलिये कहता है। मन से तो वह मान-सम्मान चाहता ही है, अतः मान रखने के अनेक रास्ते निकालता है। कहता

है – मान नहीं, पर आदमी में स्वाभिमान तो होना ही चाहिये। स्वाभिमान किसे कहते हैं, इसकी तो उसे कुछ खबर ही नहीं है; मान के ही किसी अंश को स्वाभिमान मान लेता है।

मान लीजिये आपने मुझे प्रवचन के लिए बुलाया, पर जो स्टेज बनाया तथा प्रवचन सुनने के लिए जितनी जनता जुड़ी, वह स्टेज व उतनी जनता मुझे अपनी विद्वत्ता की तुलना में अपर्याप्त लगे तथा मैं कहने लगूँ कि इतनी-सी स्टेज, इस पर एक चौकी और लगाओ। इतने बड़े विद्वान् के लिए इतनी नीची स्टेज बनाते शर्म नहीं आई और जनता भी इतनी-सी।

आप कहेंगे पंडितजी मानी हैं और मैं कहूँगा कि यह मान नहीं, स्वाभिमान है। विद्वान् को मानी नहीं पर स्वाभिमानी तो होना ही चाहिये, उसकी इज्जत तो होनी ही चाहिए।

समझ में नहीं आता कि इसमें बेइज्जती की किसने? क्या कम जनता एवं नीचे स्टेज से किसी की बेइज्जती हो जाती है? अन्ततोगत्वा मान और स्वाभिमान के बीच विभाजन रेखा तो खींचनी ही होगी – कि कहाँ तक वह स्वाभिमान कहलाएगा और कहाँ से मान। आखिर में होता यही है कि लोग उसे मानी कहते रहते हैं और मान करने वाला उसी को स्वाभिमान नाम देता रहता है।

और भी अनेक प्रसंगों पर इस प्रकार के दृश्य देखे जा सकते हैं।

स्वाभिमान शब्द स्व+अभिमान से बना है। स्व शब्द निज का वाची है, उसमें स्टेज और जनता कहाँ से आ जाते हैं। वस्तुतः तो अपनी आत्मा की पूर्ण शक्तियों को पहिचान कर उनके आश्रय से जगत के सामने दीन न होना भी स्वाभिमान है। स्वाभिमान का सही स्वरूप न पहिचान कर स्वाभिमान के नाम पर अज्ञानी मान ही करता रहता है।

सम्मान के नाम से ही मान लिया-दिया जाता है। कहते हैं कि यह सत् मान है। हम तो समझते हैं कि मान तो असत् ही होता है, पर लोगों ने उसके भी दो भेद कर डाले हैं – सत्+मान=सम्मान और असत्+मान=असम्मान। यदि मान भी सत् होगा तो फिर असत् का क्या होगा?

लोग कहते हैं कि सम्मान तो दूसरों ने दिया है, उससे हम मानी कैसे हो गये? पर भाई साहब! लिया तो आपने है। आचार्यों ने

चारों गतियों में चार कषायों की मुख्यता वताते हुए मनुष्य गति में मान की मुख्यता वताई है। आदमी सव कुछ छोड़ सकता है – घर-वार, स्त्री-पुत्रादि; यहाँ तक कि तन के वस्त्र भी, पर मान छोड़ना वहुत कठिन है। आप कहेंगे कैसी वातें करते हो ? पद की मर्यादा तो रखनी ही पड़ती है। पर भाई ! समस्त पदों के त्याग का नाम साधु पद है, यह वात क्यों भूल जाते हो ?

रावण मान के कारण ही नरक गया। यद्यपि वह सीताजी को हर कर ले गया था तथापि उसने उन्हें हाथ नहीं लगाया। अन्त में तो उसने सीताजी को ससम्मान राम को वापस करने का भी निश्चय कर लिया था, किन्तु उसने सोचा कि विना राम से लड़े और विना जीते देने पर मान भंग हो जाएगा। दुनियाँ कहेगी कि डर कर सीता वापस कर दी है। अतः उसने संकल्प किया कि पहिले राम को जीतूंगा, फिर सीता को ससम्मान वापस कर दूंगा।

देखो ! सीता वापस देना स्वीकार, पर जीतकर; हारकर नहीं। सवाल सीता का नहीं; मूँछ का था, मान का था। मूँछ के सवाल के कारण सैकड़ों घर वर्वाद होते सहज ही देखे जा सकते हैं। मनुष्यगति में अधिकतर झगड़े मान के खातिर ही होते है। न्यायालयों के आस-पास मूँछों पर ताव देते लोग सर्वत्र देखे जा सकते हैं।

यहाँ एक प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि आप कैसी वातें करते हैं ? मान-सम्मान की चाह तो ज्ञानी के भी हो सकती है, होती भी है। देखने पर पुराणों में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिल जावेंगे।

हाँ ! हाँ ! ! क्यों नहीं, अवश्य मिल जावेंगे। पर मान की चाह अलग वात है और मानादि कषायों में उपादेयवुद्धि अलग वात है। मानादि कषायों में उपादेयवुद्धि मिथ्यात्व भाव है, उसके रहते तो उत्तममार्दवादि धर्म प्रकट ही नहीं हो सकते; मान की चाह और मान कषाय की उपस्थिति में आंशिकरूप से मार्दवादि धर्म प्रकट हो सकते हैं, क्योंकि मान की चाह और मानकषाय की आंशिक उपस्थिति चारित्र-मोह का दोष है, वह क्रमशः ही जायगा, एक साथ नहीं।

सम्यग्दृष्टि के यद्यपि अनन्तानुवंधी मान चला गया है तथापि अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन मान तो विद्यमान है, उनका प्रकट रूप तो ज्ञानी के भी दिखाई देगा ही। इसी प्रकार अणुव्रती के प्रत्याख्यान और संज्वलन सम्वन्धी तथा महाव्रती

मुनिराजों के भी संज्वलन सम्बन्धी मानादि की उपस्थिति रहेगी ही। मानादि कषाय छूटेंगी तो भूमिकानुसार हीं; पर उनमें उपादेयबुद्धि, उन्हें अच्छा मानना तो छूटना ही चाहिए; इसके बिना तो धर्म का आरम्भ भी नहीं हो सकता।

आश्चय की बात तो यह है कि हम उन्हें उपयोगी और उपादेय मानने लगे हैं। कहते हैं कि गृहस्थी में थोड़ा क्रोध, मान आदि तो होना ही चाहिए, अन्यथा काम ही न चलेगा। यदि थोड़ा-बहुत भी क्रोध नहीं रहा तो फिर बच्चे भी कहना न मानेंगे। सारा अनुशासन-प्रशासन समाप्त हो जायगा। थोड़ा स्वभाव तेज हो तो सब काम ठीक होता है, समय पर होता है। इसीप्रकार यदि हम बिलकुल भी मान न रखेंगे तो फिर कोई भटे के भाव भी नहीं पूछेगा। आन-बान-शान के लिए भी थोड़ा-सा मान जरूरी है।

अज्ञानी समझता है – अनुशासन-प्रशासन और मान-सम्मान क्रोध-मान के द्वारा होते हैं, जबकि इनका क्रोध-मान के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

एक बाबाजी थे। उन्हें खाँसी उठा करती थी। उनसे कहा गया कि खाँसी का इलाज करा लीजिए, क्योंकि कहावत है कि 'लड़ाई की जड़ हाँसी और रोग की जड़ खाँसी'। वे कहने लगे – भाई! भरे-पूरे घर में इतनी खाँसी तो चाहिए। क्यों? ऐसा पूछने पर कहने लगे – तुम समझते तो हो नहीं। बहू-बेटियों वाला बड़ा घर है। घर में खाँसते-खखारते जाओ तो सब सावधान हो जाते हैं, इसमें उनकी और हमारी दोनों की इज्जत बनी रहती है।

जब उनसे कहा गया कि खाँसी का तो इलाज करवा लीजिए, बहू-बेटियों के लिए नकली खाँस लिया करना। तब तुनक कर बोले – नकली क्यों खाँसूं जब असली ही है तो; हम नकली काम नहीं करते, नकली वे करें जिनके असली न हो।

आवश्यकतावश खाँसना-खखारना अलग बात है और खाँसी को ही उपयोगी और उपादेय मानना अलग बात। जिसने खाँसी को ही उपयोगी और उपादेय मान लिया है, उसे कालान्तर में निश्चितरूप से तपेदिक होने वाला है। इसीप्रकार मानादि की चाह या मानादि का आंशिकरूप से होना अलग बात है और उन्हें उपयोगी और उपादेय मानना अलग बात। उपादेय मानने वाले को धर्म प्रकट होना भी सम्भव नहीं है।

मानादि कषायें भूमिकानुसार क्रमशः छूटती हैं, पर उनमें उपादेयबुद्धि एक साथ ही छूट जाती है। इनमें उपादेयवुद्धि छूटे विना धर्म का आरम्भ ही नहीं होता।

तो क्या अन्त में यही निष्कर्ष रहा कि क्रोध-मानादि कषायें नहीं करना चाहिए, इन्हें छोड़ देना चाहिये ?

नहीं, कहा था न कि क्रोध-मान छोड़े नहीं जाते हैं, छूट जाते हैं। वहुत से लोग मुझसे कहते हैं कि आप वीमार वहुत पड़ते हैं, जरा कम पड़ा कीजिए न। मैं पूछता हूँ कि क्या मैं वीमार सोच-समझकर पड़ता हूँ – जो कम पड़ा करूँ, अधिक नहीं। अरे भाई! मेरा वस चले तो मैं वीमार पड़ूँ ही नहीं।

इसीप्रकार क्या कोई क्रोध-मानादि कषायें सोच-समझकर करता है। अरे! उसका वश चले तो वह कषाय करे ही नहीं, क्योंकि प्रत्येक समझदार प्राणी कषायों को बुरा समझता है और यह भी चाहता है कि मैं कषाय करूँ ही नहीं, पर उसके चाहने से होता क्या है ? क्रोध-मानादि कषायें हो ही जाती हैं, हो क्या जाती हैं, सदा वनी ही रहती हैं; कभी कम, कभी अधिक; कभी मंद, कभी तीव्र। अनादिकाल से एक भी अज्ञानी आत्मा आज तक कषाय किए विना एक समय भी नहीं रहा। यदि एक वार भी, एक समय को भी कषाय भाव का पूर्णतः अभाव हो जावे तो फिर कषाय हो ही नहीं सकती।

अव यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर मान क्यों उत्पन्न होता है और मिटे कैसे ? इसकी उत्पत्ति का मूल कारण क्या है और इसका अभाव कैसे किया जाय ?

जव तक यह आत्मा परपदार्थों को अपना मानता रहेगा तव तक अनन्तानुवन्धी मान की उत्पत्ति होती ही रहेगी। यहाँ ध्यान देने योग्य वात यह है कि परपदार्थ की उपस्थितिमात्र मान का कारण नहीं है। तिजोरी में लाखों रुपया पड़ा रहता है, पर तिजोरी को मान नहीं होता, उन्हें संभालने वाले मुनीम को भी मान नहीं होता; पर उससे दूर वैठे सेठ को होता है, क्योंकि सेठ उन्हें अपना मानता है।

सेठ अपने को कपड़ा-मिल का मालिक समझता है। कपड़ा-मिल छूटने से मान नहीं छूटेगा; क्योंकि राष्ट्रीयकरण हो जाने पर मिल तो छूट जायगा, पर सेठ को मान की जगह दीनता हो जावेगी।

अभी तक अपने को मिल का मालिक समझकर मान करता था, अब उसके अभाव में अपने को दीन अनुभव करेगा।

मिल छूटने से नहीं, पर छोड़ने से तो मान छूट जायगा ?

तब भी नहीं, क्योंकि छोड़ने से छोड़ने का मान हो जायगा, मान छोड़ने के लिए उसे अपना मानना छोड़ना होगा। मान का आधार 'पर' नहीं, पर को अपना मानना है।

जो पर को अपना माने उसे मुख्यतः मान होता है। अतः मान छोड़ने के लिए पर को अपना मानना छोड़ना होगा। पर को अपना मानना छोड़ने का अर्थ यह है कि निज को निज और पर को पर जानना होगा, दोनों को भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र सत्तायुक्त पदार्थ मानना ही पर को अपना मानना छोड़ना है, ममत्वबुद्धि छोड़ना है।

पर से ममत्वबुद्धि छोड़नी है और रागादि भावों में उपादेयबुद्धि छोड़नी है। इनके छूट जाने पर मुख्यतः मान उत्पन्न ही न होगा, विशेषकर अनन्तानुबंधी मान तो उत्पन्न ही न होगा। चारित्र-दोष और कमजोरी के कारण अप्रत्याख्यानादि मान कुछ काल तक रहेंगे, पर वे भी इसी ज्ञान-श्रद्धान के बल पर होने वाली आत्मलीनता से क्रमशः क्षीण होते जावेंगे और एक दिन ऐसा आयेगा कि मार्दव-स्वभावी आत्मा पर्याय में भी पूर्ण मार्दवधर्म से युक्त हो जायगा, मानादि का लेश भी न रहेगा।

वह दिन सबको शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त हो, इस पवित्र भावना के साथ मार्दवधर्म की चर्चा से विराम लेता हूँ।

उत्तमआर्जव

क्षमा और मार्दव के समान ही आर्जव भी आत्मा का स्वभाव है। आर्जवस्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा में छल-कपट मायाचार के अभावरूप शान्ति-स्वरूप जो पर्याय प्रकट होती है, उसे भी आर्जव कहते हैं। यद्यपि आत्मा आर्जवस्वभावी है तथापि अनादि से ही आत्मा में आर्जव के अभावरूप मायाकषायरूप पर्याय ही प्रकट रूप से विद्यमान है।

'ऋजोर्भावः आर्जवम्' ऋजुता अर्थात् सरलता का नाम आर्जव है। आर्जव के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। सम्यग्दर्शन के साथ होने वाली सरलता ही उत्तमआर्जव धर्म है। उत्तमआर्जव अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित वीतरागी सरलता।

आर्जवधर्म की विरोधी मायाकषाय है। मायाकषाय के कारण आत्मा में स्वभावगत सरलता न रहकर कुटिलता उत्पन्न हो जाती है। मायाचारी का व्यवहार सहज एवं सरल नहीं होता। वह सोचता कुछ है, बोलता कुछ है, और करता कुछ है। उसके मन-वचन-काय में एकरूपता नहीं रहती। वह अपने कार्य की सिद्धि छल-कपट के द्वारा ही करना चाहता है।

मायाचारी की प्रवत्ति का चित्रण पंडित टोडरमलजी ने इस प्रकार किया है :—

"जब इसके माया कषाय उत्पन्न होती है तब छल द्वारा कार्य सिद्ध करने की इच्छा होती है। उसके अर्थ अनेक उपाय सोचता है, नाना प्रकार कपट के वचन कहता है, शरीर की कपटरूप अवस्था करता है, बाह्यवस्तुओं को अन्यथा बतलाता है, तथा जिनमें अपना मरण जाने ऐसे भी छल करता है। कपट प्रकट होने पर स्वयं का बहुत बुरा हो, मरणादिक हो उनको भी नहीं गिनता। तथा माया होने पर किसी पूज्य व इष्ट का भी सम्बन्ध बने तो उनसे भी छल करता है, कुछ विचार नहीं रहता। यदि छल द्वारा कार्य सिद्धि न हो तो स्वयं बहुत संतापवान होता है, अपने अंगों का घात करता है तथा विष आदि से मर जाता है—ऐसी अवस्था माया होने पर होती है।"[१]

---

[१] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३

मायाचारी व्यक्ति अपने सब कार्य मायाचार से ही सिद्ध करना चाहता है। वह यह नहीं समझता कि काठ की हांडी दो बार नहीं चढ़ती। एक बार मायाचार प्रकट हो जाने पर जीवनभर को विश्वास उठ जाता है। धोखा-धड़ी से कभी-कभी और किसी-किसी को ही ठगा जा सकता है, सदा नहीं और सबको भी नहीं।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि लौकिक कार्यों की सिद्धि मायाचार से नहीं, पूर्व पुण्योदय से होती है और पारलौकिक कार्य की सिद्धि में पाँचों समवायों के साथ पुरुषार्थ प्रधान है।

कार्यसिद्धि के लिए कपट का प्रयोग कमजोर व्यक्ति करता है। सबल व्यक्ति को अपनी कार्यसिद्धि के लिए कपट की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। उसकी प्रवृत्ति तो अपने जोर के जरिये कार्य सिद्ध करने की रहती है।

यह भी बात नहीं कि मायाचार की प्रवृत्ति मात्र किसी को ठगने के लिए ही की जाती हो, कुछ लोग मनोरंजन के लिए या आदतवश भी ऐसा करते हैं। उन लोगों को यहाँ की वहाँ भिड़ाने में कुछ आनन्द-सा आता है। ऐसे लोग अपने छोटे से छोटे मनोरंजन के लिए दूसरों को बड़े से बड़े संकट में डालने से नहीं चूकते।

आजकल सभ्यता के नाम पर भी बहुत-सा मायाचार चलता है। बिना लाग-लपेट के कही गई सच्ची बात तो लोग सुनना भी पसन्द नहीं करते। यह भी एक कारण है कि लोग अपने भाव सीधे रूप में प्रकट न कर एड़े-टेड़े रूप में व्यक्त करते हैं। सभ्यता के विकास ने आदमी को बहुत-कुछ मिठबोला बना दिया है। आज के आदमी के लिए ऊपर से चिकनी-चुपड़ी बातें करना और अन्दर से काट करना एक साधारण-सी बात हो गई है।

वह यह नहीं समझता कि यह मायाचारी दूसरों के लिए ही नहीं, स्वयं के लिए भी बहुत खतरनाक साबित हो सकती है, उसके सुख-चैन को भंग कर सकती है। भंग क्या कर सकती है, किए रहती है।

मायाचारी सदा सशंक बना रहता है, क्योंकि उसने जो दरंगी नीति चलाई है, उसके प्रकट हो जाने का भय उसे सदा बना रहता है। छल कभी न कभी प्रकट होता ही है, उसकी गप्तता बनाए रखना अपने आप में असंभव नहीं, तो कठिन काम अवश्य है। वह सदा उसी में उलझा रहता है।

वह हमेशा भयाक्रान्त भी बना रहता है। उसे यह भय सदा बना रहता है कि कपट खुल जाने पर उसकी बहुत बुरी हालत होगी, वह महान कष्ट में पड़ जायेगा। बलवानों के साथ किया गया कपट-व्यवहार खुलने पर बहुत खतरनाक साबित होता है। खतरा तो कपट खुलने पर होता है, पर खतरे की आशंका से कपटी सदा ही भयाक्रान्त रहता है।

सशंकित और भयाक्रान्त व्यक्ति कभी भी निराकुल नहीं हो सकता। उसका चित्त निरन्तर आकुल-व्याकुल और अशांत रहता है। अशांत-चित्त व्यक्ति कोई भी कार्य सही रूप में एवं सफलतापूर्वक नहीं कर सकता है, फिर धर्म की साधना और आत्मा की आराधना तो बहुत दूर की बातें हैं।

मायाचारी व्यक्ति का कोई विश्वास नहीं करता। यहाँ तक कि माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी-पुत्र का भी उस पर से विश्वास उठ जाता है।

यही कारण है कि मायाकषाय का वर्णन करते हुए श्री शुभचन्द्राचार्य ने 'ज्ञानार्णव' के उन्नीसवें सर्ग में लिखा है :–

जन्मभूमिरविद्यानामकीर्तेर्वासमन्दिरम् ।
पापपङ्कमहागर्तो निकृतिः कीर्तिता बुधैः ॥५८॥
अर्गलेवापवर्गस्य पदवी श्वभ्रवेश्मनः ।
शीलशालवने वह्निमयियमवगम्यताम् ॥५९॥

बुद्धिमान लोग कहते हैं कि माया को इस प्रकार जानो कि वह अविद्या की जन्मभूमि, अपयश का घर, पापरूपी कीचड़ का बड़ा भारी गड्ढा, मुक्ति-द्वार की अर्गला, नरकरूपी घर का द्वार और शीलरूपी शालवृक्ष के वन को जलाने के लिए अग्नि है।

मायाकषाय के अभाव का नाम ही आर्जवधर्म है।

आर्जवधर्म और मायाकषाय की चर्चा जब भी चलती है तब उसे मन-वचन-काय के माध्यम से ही समझा-समझाया जाता है। कहा जाता है कि मन-वचन और काया की एकरूपता ही आर्जवधर्म है और इनकी विरूपता ही आर्जवधर्म की विरोधी मायाकषाय है। यह उपदेश भी दिया जाता है कि जैसा मन में हो वैसा ही वाणी से कहना चाहिये, तथा जैसा बोला हो वैसा ही करना चाहिये। इसे ही आर्जवधर्म बताया जाता है। तथा मन में और, वचन में और,

करे कुछ और, यह माया है – ऐसा कहा जाता है। मन-वचन-काय की इस विरूपता को ही वक्रता, कुटिलता आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है।

किन्तु यह सब स्थूल कथन है। सूक्ष्मता से विचार करने पर इस सन्दर्भ में कई प्रश्न खड़े हो जाते हैं।

आर्जवधर्म और मायाकषाय की उक्त परिभाषाएँ स्वीकार करने पर आर्जवधर्म और मायाकषाय की उपस्थिति मन-वचन-काय वालों के ही मानना होगी, क्योंकि मन-वचन-काय की एकरूपता या विरूपता मन-वचन-काय वालों के ही सम्भव है; जिनके मन-वचन-काय ही नहीं, उनके नहीं। मन-वचन-काय के अभाव में उनमें एकरूपता या विरूपता का प्रश्न ही नहीं उठता।

सिद्धों के मन-वचन-काय का अभाव है, अतः उक्त परिभाषा के अनुसार उनके आर्जवधर्म सम्भव नहीं है, जबकि उनके आर्जवधर्म होता है। उनमें आर्जवधर्म की सत्ता शास्त्रसंमत तो है ही, युक्तिसंगत भी है। उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव आदि आत्मा के धर्म हैं एवं वे आत्मा की स्वभाव-पर्यायें भी हैं, उनका – सम्पूर्णधर्मों एवं सम्पूर्ण स्वभाव-पर्यायों से युक्त सिद्ध जीवों में पाया जाना अवश्यम्भावी है, क्योंकि सम्पूर्ण शुद्धता का नाम ही सिद्धपर्याय है।

इसीप्रकार जिनके मन और वाणी नहीं है ऐसे एकेन्द्रियादि जीवों के मायाकषाय मानना सम्भव न होगा; क्योंकि जिनके अकेली काया है, मन और वचन है ही नहीं, उनके मन-वचन-काय की विरूपता अर्थात् मन में और, वचन में और, करे कुछ और वाली बात कैसे घटित होगी ?

एक दुकान पर तीन विक्रेता हैं – पृथक्-पृथक् उन सबसे किसी कपड़े का भाव पूछने पर एक ने आठ रुपये मीटर, दूसरे ने दस रुपये मीटर एवं तीसरे ने बारह रुपये मीटर बताया, जबकि वह है आठ रु० मीटर का ही। उक्त स्थिति में तीनों की बातों में विरूपता होने से वे अप्रामाणिक कहे जावेंगे। आप कहेंगे – क्या लूट मचा रखी है, जितने आदमी उतने भाव। पर यदि एक ही विक्रेता हो और वह आठ रुपये मीटर के कपड़े को बारह रुपये मीटर बतावे तो क्या वह प्रामाणिक हो जावेगा ? नहीं, कदापि नहीं। परन्तु एक ही विक्रेता होने से विरूपता दिखाई नहीं देगी। एक में विरूपता कैसी ? विरूपता तो अनेक में ही सम्भव है। इसी प्रकार एकेन्द्रियादि जीवों में

वाणी और काया का अभाव होने से विरूपता तो सम्भव नहीं है, तो फिर उनके – मन-वचन-काय की विरूपता है परिभाषा जिसकी ऐसी – मायाकषाय की उपस्थिति कैसे मानी जावेगी ? मायाकषाय के अभाव में उनके आर्जवधर्म मानना होगा जो कि असम्भव है, क्योंकि शास्त्रों में ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि एकेन्द्रिय के ही क्या, एकेन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों के चारों कषायें होती हैं, भले ही उनका प्रकटरूप दिखाई न दे।

दूसरे मन-वचन-काय की एकरूपता उल्टी भी तो हो सकती है। जैसे तीनों ही विक्रेता आठ रुपये मीटर के कपड़े का भाव वीस रुपया मीटर वतावें, तो क्या वे सही हो जावेंगे ? नहीं, कदापि नहीं; जवकि उन तीनों के वोलने में एकरूपता दिखाई देगी, क्योंकि वुद्धिपूर्वक पूर्वनियोजित वेईमानी में भी एकरूपता सहज ही पाई जाती है।

उसीप्रकार जैसे किसी के मन में खोटा भाव आया, उसे उसने वाणी में भी व्यक्त कर दिया और काया से वैसा कार्य भी कर डाला तो क्या उसके आर्जवधर्म प्रकट हो जावेगा ? फिर तो आर्जवधर्म प्राप्त करने के लिए मन में आये प्रत्येक खोटे भाव को वाणी में लाना और क्रियात्मकरूप देना अनिवार्य हो जायगा, जो कि किसी भी स्थिति में इष्ट नहीं हो सकता।

'मन में होय सो वचन उचरिये' के सन्दर्भ में एक वात यह भी विचारणीय है कि – क्या आर्जवधर्म के लिए वोलना जरूरी है ? क्या विना वोले आर्जवधर्म की सत्ता सम्भव नहीं है ? जो भावलिंगी संत मौनव्रत के धारी हैं क्या उनके आर्जवधर्म नहीं है ? वाहुवली दीक्षा लेने के वाद एक वर्ष तक ध्यानस्थ खड़े रहे, कुछ वोले ही नहीं; तो क्या उनके आर्जवधर्म नहीं था ? था, अवश्य था। तो फिर आर्जवधर्म होने के लिए वोलना जरूरी नहीं रहा।

यदि जैसा मन में हो वैसा ही वोल दें, तो क्या आर्जवधर्म हो जायगा ? नहीं, क्योंकि इसप्रकार तो फिर विकृत-मन और विकृत-वाणी वाला अर्द्धविक्षिप्त व्यक्ति आर्जवधर्म का धनी हो जायगा, क्योंकि उसके मन में जो आता वह वही वक देता है।

जिसप्रकार वोलने के सम्वन्ध में यहाँ स्पष्ट किया गया है, उसी प्रकार करने के सम्वन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

आर्जवधर्म और मायाकषाय ये दोनों ही जीव के भाव हैं एवं मन-वचन-काय पुद्गल की अवस्थाएँ हैं। जीव और पुद्गल दोनों जुदे-जुदे द्रव्य हैं और उनकी परिणतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। आर्जव धर्म आत्मा का स्वभाव एवं स्वभाव-भाव है तथा मायाकषाय आत्मा का विभाव-भाव है। स्वभाव और स्वभाव-भाव होने के लिए तो पर की आवश्यकता का प्रश्न ही नहीं उठता; विभाव-भाव में भी पर निमित्तमात्र ही होता है। निमित्त भी कर्मोदय तथा अन्य वाह्य पदार्थ होंगे, मन-वचन-काय नहीं। अतः मन-वचन-काय से आर्जवधर्म और मायाकषाय के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यद्यपि यह सत्य है कि आर्जवधर्म के होने के लिए मन-वचन-काय की आवश्यकता नहीं, क्योंकि मन-वचन-कायरहित सिद्धों के वह विद्यमान है। इसीप्रकार मायाकषाय की उपस्थिति के लिए भी तीनों की अनिवार्य उपस्थिति आवश्यक नहीं, क्योंकि एकेन्द्रिय के अकेली काया है फिर भी उसके माया पायी जाती है, जैसा कि पहिले सिद्ध किया जा चुका है; तथापि समझने-समझाने के लिए उनकी उपयोगिता है, क्योंकि इनके विना हमारे पास मायाकषाय और आर्जवधर्म को समझने-समझाने के लिए कोई दूसरा साधन नहीं है। यही कारण है कि इन्हें मन-वचन-काय के माध्यम से समझा-समझाया जाता है।

दूसरी वात यह भी तो है कि समझने वाले और समझाने वाले दोनों ही मन-वचन-काय वाले हैं और समझने-समझाने का माध्यम भी मन-वचन-काय है। जिनके इनका अभाव है, ऐसे सिद्ध कभी किसी को समझाते नहीं एवं जिनके इनमें से एक का भी अभाव है, ऐसे असैनी पंचेन्द्रिय तक के संसारी जीव समझते नहीं। विशेषकर मनुष्य जाति में ही इनकी चर्चा चलती है तथा मनुष्य का मायाचार प्रायः मन-वचन-काय की विरूपता में तथा आर्जवधर्म इनकी एकरूपता में प्रकट होता देखा जाता है।

अतः आर्जवधर्म एवं मायाकषाय को मन-वचन-काय के माध्यम से समझा-समझाया जाता है।

मन-वचन-काय के माध्यम से मायाचार एवं आर्जवधर्म होते नहीं, प्रकट होते हैं। समझने-समझाने के लिए प्रकट होना अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रकट वस्तु को समझना-समझाना जितना

आसान है, उतना अप्रकट को नहीं। एकेन्द्रिय के मन और वचन का अभाव होने से उसके मायाकषाय अप्रकट रहती है, अतः उसमें मायाकषाय की उपस्थिति आगम से ही जानी जाती है, उसे युक्ति से सिद्ध करना सम्भव नहीं। इसीप्रकार सिद्धों में आर्जवधर्म भी आगमसिद्ध ही है, युक्तियों से सिद्ध करना कठिन है। जो युक्तियाँ दी जावेंगी, अन्ततः वे सब आगमाश्रित ही होंगी।

यद्यपि उक्त कारणों के कारण समझने-समझाने में मन-वचन-काय के माध्यम का प्रयोग किया जाता है तथापि समझने-समझाने की इस पद्धति के कारण कोई यदि यही मान ले कि मायाकषाय एवं आर्जवधर्म के लिए मन-वचन-काय आवश्यक हैं, तो उसका मानना सही न होगा।

यद्यपि मन-वचन-काय की विरूपता नियम से मायाचारी के ही होगी तथा जितने अंश में आर्जवधर्म प्रकट होगा, उतने अंश में तीनों की एकरूपता भी होगी ही; तथापि मायाकषाय और आर्जवधर्म इन तक ही सीमित नहीं, और भी है – यहाँ यही बताना है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मन-वचन-काय के माध्यम से आर्जवधर्म और मायाकषाय को समझने-समझाने का मूल कारण यह है कि मन-वचन-काय वालों की मायाकषाय और आर्जवधर्म प्रायः मन-वचन-काय के माध्यम से ही प्रकट होते हैं।

यदि ऐसी बात है तो फिर तो यह बात ठीक ही है कि :–

'मन में होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सों करिये।'

हाँ ! हाँ !! ठीक है, पर किनके लिये, इसका भी विचार किया या नहीं ? यह बात उनके लिये है, जिनका मन इतना पवित्र हो गया है कि जो बात उनके मन में आई है वह यदि वाणी में भी आ जाय तो फूलों की वर्षा हो और उसे यदि कार्यान्वित कर दिया जाय तो जगत निहाल हो जावे; उनके लिए नहीं, जिनका मन पापों से भरा है; जिनके मन में निरन्तर खोटे भाव ही आया करते हैं; हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का ही चिन्तन जिनके सदा चलता रहता है। यदि उन्होंने भी यही बात अपना ली तो मन के समान उनकी वाणी भी अपावन हो जावेगी तथा उनका जीवन घोर पापमय हो जावेगा।

'मन में होय सो वचन उचरिये' का आशय मात्र यह है कि मन को इतना पवित्र बनाओ कि उसमें कोई खोटा भाव आवे ही नहीं।

जिनके हृदय में निरन्तर अपवित्र भाव ही आया करते हैं, उनके लिए तो यही ठीक है कि :–

'मन में होय सो मन में रखिये, वचन होय तन सों न करिये।'

क्यों ?

क्योंकि आज लोगों के मन इतने अपवित्र हो गये हैं, उनके मनों में इतनी हिंसा समा गई है कि यदि वह वाणी में फूट पड़े तो जगत में कोलाहल मच जाये और यदि जीवन में आ जाय तो प्रलय होने में देर न लगे। इसीप्रकार मन इतना वासनामय और विकृत हो गया है कि यदि मन का विकार वाणी और काया में फूट पड़े तो किसी भी माँ-वहिन की इज्जत सुरक्षित न रहे। अतः यह ही ठीक है कि जो पाप मन में आ गया, उसे वहीं तक सीमित रहने दो, वाणी में न लाओ; जो वाणी में आ गया, उसे क्रियान्वित मत करो।

जरा विचार तो करो कि गुस्से में यदि मेरे मुँह से यह निकल जाय कि 'मैं तुम्हें जान से मार डालूँगा' तो क्या यह उचित होगा कि मैं अपनी वात को कार्यरूप में भी परिणित करूँ ? नहीं, कदापि नहीं। वल्कि आवश्यक तो यह है कि मैं उस विचार को भी तत्काल त्याग दूँ।

अतः यही उचित है कि मन-वचन-काय की एकरूपता अच्छाई में ही हो, वुराई में नहीं। हमें मन-वचन-काय में एकरूपता लाने के लिए मन को इतना पवित्र वनाना होगा कि उसमें कोई खोटा भाव कभी उत्पन्न ही न हो, अन्यथा उनकी एकरूपता रखना न तो सम्भव ही होगा और न हितकर ही।

तत्त्वार्थसूत्र में उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दशधर्मों की चर्चा गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा और परीषहजय के साथ की गई है– ये सब मुनिधर्म से सम्वन्धित हैं। अतः आर्जवधर्म की चर्चा भी उन मुनिराजों के सन्दर्भ में ही हुई है, जिनके मन-वचन-काय की दशा निम्नलिखितानुसार हो रही है :–

दिन रात आत्मा का चिंतन, मृदुसंभाषण में वही कथन।
निर्वस्त्र दिगम्वर काया से भी, प्रकट हो रहा अन्तर्मन।।

वे दिन-रात आत्मा का ही चिन्तन-मनन-अनुभवन करते रहते हैं, अतः उनकी वाणी में भी उसकी ही चर्चा निकलती है और चर्चा करते-करते वे आत्मानुभवन में समा जाते हैं। उनके मन में अशुभ भाव आते ही नहीं।

हमारी स्थिति उनसे भिन्न है। अतः हमें अपने स्तर पर विचार करना जरूरी है। मन में होने पर भी वहुत से पापों से जीवन में हम इसलिए वचे रहते हैं कि समाज उन कार्यों को वुरा मानता है, सरकार उन कार्यों को करने से रोकती है। कभी-कभी हमारा विवेक भी उन कार्यों में हमें प्रवृत्त नहीं होने देता। वाणी को भी हम उक्त कारणों से काफी संयमित रखते हैं।

यही कारण है कि जगत के कायिक जीवन में उतनी विकृति नहीं, जितनी की जन-जन के मनों में है। 'मन में होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सों करिये' का उपदेश मन की विकृतियों को वाहर लाने के लिए नहीं, वरन् उन्हें समाप्त कर मन को पावन वनाने के लिए है।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि यदि यह वात है तो फिर आप यह क्यों कहते हैं कि – 'मन में होय सो मन में रखिये।' इसका भी कारण है और वह यह कि मन को इतना पवित्र वना लेना इतना आसान नहीं कि यहाँ हमने कहा और वहाँ आपने वना लिया। वह तो वनते-वनते ही वनेगा। अतः जव तक मन पूर्णतः पावन नहीं वन पाता, उसमें दुर्भाव उत्पन्न होते रहते हैं, तव तक हमारी उक्त सलाह पर चलना मात्र उपयुक्त ही नहीं वरन् आवश्यक भी है, अन्यथा आपका जीवन स्वाभाविक भी न रह सकेगा।

यदि मन को पवित्र वनाये विना ही आपने मन की वातें वाणी में उगलना आरम्भ कर दिया एवं उन्हें कार्यरूप में भी परिणत करने की कोशिश की तो हो सकता है कि लोग आपको मानसिक चिकित्सा-लय में प्रवेश दिलाने का प्रयत्न करने लगें।

वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति मन में आये खोटे भावों को रोकने का प्रयत्न करता ही है। वह चाहता है कि वाणी में खोटा भाव प्रकट ही न हो। पर कभी-कभी जव मन भर जाता है, वह भाव मन में समाता नहीं, तो वाणी में फूट पड़ता है। एक वात यह भी है कि जव कोई भाव निरंतर मन में वना रहता है तो फिर वह वाणी में

फूटता ही है। मन सदा ही अपावन बना रहे तो आखिर हम उसे वाणी में आने से और जीवन में उतरने से कब तक रोकेंगे ? उसका पूरी तरह रोकना सम्भव भी तो नहीं है।

जो जहाँ से आते हैं, वहाँ की बातें उनके मन में छाई रहती हैं; अतः वे सहज ही वहाँ की चर्चा करते हैं। यदि कोई आदमी अभी-अभी अमेरिका से आया हो तो वह बात-बात में अमेरिका की चर्चा करेगा। भोजन करने बैठेगा तो बिना पूछे ही बतायेगा कि अमेरिका में इसतरह खाना खाते हैं, चलेगा तो कहेगा कि अमेरिका में इस प्रकार चलते हैं। कुछ बाजार से खरीदेगा तो कहेगा कि अमेरिका में तो यह चीज इस भाव मिलती है, आदि।

इसीप्रकार सदा आत्मा में विचरण करने वाले मुनिराज और ज्ञानीजन सदा आत्मा की ही बात करते हैं और विषय-कषाय में विचरण करने वाले मोहीजन विषय-कषाय की ही चर्चा करते हैं।

अतः 'मन में होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सों करिये' का आशय जो मन में आवे उसी को बक देना और जो मुँह से निकल गया वही कर डालना नहीं; वरन् यह है कि मनुष्य-जीवन में जो करने योग्य है हम उसी को वाणी में लावें और जो करने योग्य एवं कहने योग्य है, हमारे मन में बस वे ही विचार आवें, अन्य कुविचार नहीं।

यह बात तो ठीक, पर मूल प्रश्न तो यह है कि मायाचार छोड़ने के लिए, मन-वचन-काय की त्रिरूपता, कुटिलता, वक्रता से बचने के लिए तथा आर्जवधर्म प्रकट करने के लिए अर्थात् मन की बात वाणी में लाने से फूलों की वर्षा हो और जीवन में उतारने से जगत् निहाल हो जावे, ऐसा पवित्र मन बनाने के लिए क्या करें ?

उत्तम आर्जवधर्म प्रकट करने के लिए सर्वप्रथम यह जानना होगा कि वस्तुतः मायाकषाय मन-वचन-काय की विरूपता, वक्रता या कुटिलता का नाम नहीं; वरन् आत्मा की विरूपता, वक्रता या कुटिलता का नाम है। मन-वचन-काय के माध्यम से तो वह प्रकट होती है, उत्पन्न तो आत्मा में ही होती है।

आत्मा का स्वभाव जैसा है वैसा न मानकर अन्यथा मानना, अन्यथा ही परिणमन करना चाहना ही, अनंत वक्रता है। जो जिसका कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता नहीं है, उसे उसका कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता मानना-चाहना

ही अनंत कुटिलता है। रागादि आस्रवभाव दुःखरूप एवं दुःखों के कारण हैं, उन्हें सुखस्वरूप एवं सुख का कारण मानना; तद्रूप परिणमन कर सुख चाहना; संसार में रंचमात्र भी सुख नहीं है, फिर भी उसमें सुख मानना एवं तद्रूप परिणमन कर सुख चाहना ही वस्तुतः कुटिलता है, वक्रता है। इसीप्रकार वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा न मानकर, उसके विरुद्ध मानना एवं वैसा ही परिणमन करना चाहना विरूपता है।

यह सब आत्मा की वक्रता है, कुटिलता है एवं विरूपता है। यह वक्रता-कुटिलता-विरूपता तो वस्तु का सही स्वरूप समझने से ही जावेगी।

जैसा आत्मा का स्वभाव है, उसे वैसा ही जानना, वैसा ही मानना और उसी में तन्मय होकर परिणम जाना ही वीतरागी सरलता है; उत्तमआर्जव है। मुनिराजों के जो उत्तमआर्जवधर्म होता है, वह इसीप्रकार का होता है अर्थात् वे आत्मा को वर्णादि और रागादि से भिन्न जानकर उसमें ही समा जाते हैं, वीतरागतारूप परिणम जाते हैं, यही उनका उत्तमआर्जवधर्म है; बोलने और करने में आर्जवधर्म नहीं। आर्जवधर्म की जैसी उत्कृष्ट दशा उनके ध्यान-काल में होती है, वैसी उत्कृष्ट दशा बोलते समय या कार्य करते समय नहीं होती।

बोलते और अन्य कार्य करते समय भी जो आर्जवधर्म उनके विद्यमान है, वह बोलने-करने की क्रिया के कारण नहीं; उस समय आत्मा में विद्यमान सरलता के कारण है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का सम्यक् एवं एकरूप परिणमन ही आत्मा की एकरूपता है, वही वीतरागी सरलता है और वही वास्तविक उत्तमआर्जवधर्म है। लौकिक में छल-कपट के अभावरूप मन-वचन-काय की एकरूपतारूप सरल परिणति को व्यवहार से आर्जवधर्म कहा जाता है।

अन्तर से बाहर की व्याप्ति होने से जिनके निश्चय उत्तम आर्जव प्रकट होता है, उनका व्यवहार भी नियम से सरल होता है अर्थात् उनके व्यवहार-आर्जव भी नियम से होता है। जिनके व्यवहार में भी भूमिकानुसार सरलता नहीं, उनके तो निश्चय आर्जव होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

मन-वचन-काय में भी वास्तविक एकरूपता आत्मा में उत्पन्न सरलता के परिणाम-स्वरूप आती है। 'मैं मन को पवित्र रखूं, उसमें कोई बुरी बात न आने दूं' – इसप्रकार के विकल्पों से आर्जवधर्म प्रकट नहीं होता। वस्तु के सही स्वरूप को जाने-माने विना वीतरागी सरलतारूप आर्जवधर्म प्रकट नहीं किया जा सकता। आर्जवस्वभावी आत्मा के आश्रय से ही मायाचार का अभाव होकर वीतरागी सरलता प्रकट होती है।

क्रोध और मान के समान माया भी चार प्रकार की होती है :– १. अनंतानुबंधीमाया, २. अप्रत्याख्यानावरणमाया ३. प्रत्याख्यानावरणमाया और ४. संज्वलनमाया।

अनंतानुबंधीमाया का अभाव आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि के ही होता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त किये विना अनंत प्रयत्न करने पर भी अनंतानुबंधीमाया का अभाव नहीं किया जा सकता तथा जब तक अनंतानुबंधीमाया है तब तक नियम से चारों प्रकार की मायाकषायें विद्यमान हैं, क्योंकि सर्वप्रथम अनंतानुबंधीमाया का ही अभाव होता है।

शास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख है कि सम्यग्दृष्टि के अनंतानुबंधी कषायों, अणुव्रती के अप्रत्याख्याणावरण कषायों, महाव्रती के प्रत्याख्यानावरण कषायों एवं यथाख्यातचारित्र वालों के संज्वलन कषायों का अभाव होता है। उक्त भूमिकाओं के पूर्व इन कषायों का अभाव सम्भव नहीं है।

इससे यह सिद्ध होता है कि यदि कषायों का अभाव करना है तो उसका उपाय कषायों की तरफ देखना नहीं और न उन वस्तुओं की ओर देखना ही है जिनके लक्ष्य से ये कषायें उत्पन्न होती हैं; वरन् अकषायस्वभावी अपनी आत्मा की ओर देखना है; अपनी आत्मा को जानना, मानना और अनुभव करना है; आत्मा में ही जम जाना, रम जाना, समा जाना है।

अपने को जानने-मानने वाले एवं अपने में ही निमग्न, वीतरागी सरलता से सम्पन्न संतों को नमस्कार करते हुए इस पवित्र भावना के साथ कि जन-जन अकषायस्वभावी आत्मा का आश्रय लेकर उत्तम आर्जवधर्म प्रकट करें, आर्जवधर्म की चर्चा से विराम लेता हूँ।

उत्तमशौच

'शुचेर्भावः शौचम्' शुचिता अर्थात् पवित्रता का नाम शौच है। शौच के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। अतः सम्यग्दर्शन के साथ होने वाली वीतरागी पवित्रता ही उत्तम शौचधर्म है।

शौचधर्म की विरोधी लोभकषाय मानी गयी है। लोभ को पाप का वाप कहा जाता है, क्योंकि जगत में ऐसा कौनसा पाप है जिसे लोभी न करता हो। लोभी क्या नहीं करता ? उसकी प्रवृत्ति जैसे भी हो, येन-केन-प्रकारेण धनादि भोग-सामग्री इकट्ठी करने की ही रहती है।

लोभी व्यक्ति की प्रवृत्ति का चित्रण महापंडित टोडरमलजी ने इसप्रकार किया है :—

"जव इसके लोभकषाय उत्पन्न हो तव इष्ट पदार्थ के लाभ की इच्छा होने से, उसके अर्थ अनेक उपाय सोचता है। उसके साधनरूप वचन वोलता है, शरीर की अनेक चेष्टा करता है, वहुत कष्ट सहता है, सेवा करता हैं, विदेश गमन करता है; जिसमें मरण होना जाने वह कार्य भी करता है। जिनमें वहुत दुःख उत्पन्न हो ऐसे आरम्भ करता है। तथा लोभ होने पर पूज्य व इष्ट का भी कार्य हो, वहाँ भी अपना प्रयोजन साधता है, कुछ विचार नहीं रहता। तथा जिस इष्ट वस्तु की प्राप्ति हुई है, उसकी अनेक प्रकार से रक्षा करता है। यदि इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो या इष्ट का वियोग हो तो स्वयं वहुत संतापवान होता है, अपने अंगों का घात करता है तथा विष आदि से मर जाता है। ऐसी अवस्था लोभ होने पर होती है।"[1]

आचार्य शुभचन्द्र ने तो 'ज्ञानार्णव' के उन्नीसवें सर्ग में यहाँ तक लिखा है :—

स्वामिगुरुवन्धुवृद्धानवलावालांश्च जीर्णदीनादीन्।
व्यापाद्य विगतशङ्को लोभार्तो वित्तमादत्ते ।।७०।।

ये केचित्सिद्धान्ते दोषाः श्वभ्रस्य साधकाः प्रोक्ताः।
प्रभवन्ति निर्विचारं ते लोभादेव जन्तूनाम् ।।७१।।

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ५३

इस लोभकषाय से पीड़ित हुआ व्यक्ति अपने मालिक, गुरु, बन्धु, वृद्ध, स्त्री, बालक; तथा क्षीण, दुर्बल, अनाथ, दीनादि को भी निःशंकता से मार कर धन को ग्रहण करता है।

नरक ले जाने वाले जो-जो दोष सिद्धान्तशास्त्रों में कहे गये हैं वे सव लोभ से प्रकट होते हैं।

पैसे का लोभी व्यक्ति सदा जोड़ने में ही लगा रहता है, भोगने का उसे समय ही नहीं मिलता। पशुओं का लोभ पेट भरने तक ही सीमित रहता है, पेट भर जाने पर वह कुछ समय को ही सही सन्तुष्ट हो जाता है; पर मानव की समस्या मात्र पेट भरने तक सीमित नहीं रही, वह पेटी भरने के चक्कर में सदा ही असन्तुष्ट बना रहता है।

दिन रात हाय पैसा ! हाय पैसा !! उसे पैसे के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नहीं देता। वह यह नहीं समझता कि अनेक प्रयत्न करने पर भी पुण्योदय के विना धनादि अनुकूल संयोगों को प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि धनादि संयोगों की प्राप्ति पूर्वकृत पुण्य का फल है।

इसी बात की ओर ध्यान आकर्षित करने हेतु 'भगवती आराधना' में लिखा है :—

लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स।
अकएवि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवंतस्स ॥१४३६॥

लोभ करने पर भी पुण्यरहित मनुष्य को द्रव्य मिलता नहीं है और न करने पर भी पुण्यवान को धन की प्राप्ति होती है।

अतः धन की प्राप्ति में लोभ-आसक्ति कारण नहीं, परन्तु पुण्य ही कारण है। ऐसा विचार कर लोभ का त्याग करना चाहिए।

इसके पश्चात् उच्छिष्ट धन के लोभ के त्याग की प्रेरणा देते हुए लिखा है :—

सव्वे वि जए अत्था परिगहिदा ते अणंत खुत्तो मे।
अत्थेसु इत्थ कोमज्झ विभओ गहिदविजडेसु ॥१४३७॥
इह य परत्तए लोए दोसे वहुए य आवहइ लोभो।
इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि लोभो ॥१४३८॥

इस लोक में अनंतवार धन प्राप्त किया है, अतः अनंतवार ग्रहणकर त्यागे हुए इस धन के विषय में आश्चर्यचकित होना व्यर्थ है।

इस लोक व परलोक में यह लोभ अनेक दोष उत्पन्न करता है— ऐसा जानकर लोभ पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

आज की दुनियाँ में रुपये-पैसे के लोभ को ही लोभ माना जाता है। कोई विषय-कषाय में ही क्यों न खर्चे, पर दिल खोलकर खर्चे करने वालों को दरियादिल एवं कम खर्च करने वालों को लोभी कहा जाता है।

किसी ने आपको चाय-नाश्ता करा दिया, सिनेमा दिखा दिया तो वह आपकी दृष्टि में निर्लोभी हो गया और यदि उसके भी चाय-नाश्ते का विल आपको चुकाना पड़ा या सिनेमा के टिकट आपको खरीदने पड़े तो आप कहने लगेंगे – हाय राम! वड़े लोभी से पाला पड़ा।

इसीप्रकार धर्मार्थ संस्था के लिए ही सही, आप चन्दा मांगने गये और किसी ने आपकी कल्पना से कम चन्दा दिया या न दिया तो लोभी; और यदि कल्पना से अधिक दे दिया तो निर्लोभी, चाहे उसने यश के लोभ में ही अधिक चन्दा क्यों न दिया हो। इसप्रकार यश के लोभियों को प्राय: निर्लोभी मान लिया जाता है।

ऊपर से उदार दिखने वाला अन्दर से वहुत वड़ा लोभी भी हो सकता है; इस वात की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता।

अरे भाई! पैसे का ही लोभ सव-कुछ नहीं है, लोभ तो कई प्रकार का होता है। यश का लोभ, रूप का लोभ, नाम का लोभ, काम का लोभ आदि।

वस्तुत: तो पाँचों इन्द्रियों के विषयों की एवं मानादि कपायों की पूर्त्ति का लोभ ही लोभ है। पैसे का लोभ तो कृत्रिम लोभ है। यह तो मनुष्य भव की नयी कमाई है। लोभ तो चारों गतियों में होता है, किन्तु रुपये-पैसे का व्यवहार तो चारों गतियों में नहीं है। यदि रुपये-पैसे के लोभ को ही लोभ मानें तो अन्य गतियों में लोभ की सत्ता सम्भव न होगी, जवकि कपायों की वाहुल्यता का वर्णन करते हुए आचार्यों ने लोभ की अधिकता देवगति में वताई है।

नारकियों में क्रोध, मनुष्यों में मान, तिर्यंचों में माया और देवों में लोभ की प्रधानता होती है। देवगति में पैसे का व्यवहार नहीं है, अत: लोभ को पैसे की सीमा में कसे वांधा जा सकता है?

पैसा तो विनिमय का एक कृत्रिम साधन है। रुपये-पैसे में ऐसा कुछ नहीं है कि जो जीव को लुभाए। लोग न उसके रूप पर लुभाते हैं, न रस पर।

जिन कागज के नोटों पर यह मानव मर मिटने को फिर रहा है, यदि वे नोट गाय के सामने रखो तो वह सूंघेगी भी नहीं; जबकि घास पर झपट पड़ेगी। गाय की दृष्टि में नोटों की कीमत घास के बराबर भी नहीं, पर यह अपने को सभ्य कहने वाला मानव उनके पीछे दिन-रात एक किए डालता है। ऐसा क्या जादू है उनमें ?

उनके माध्यम से पंचेन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति होती है, मानादि कषायों की पूर्ति होती है। यही कारण है कि मानव उनके प्रति लुभा जाता है। यदि उनके माध्यम से भोगों की प्राप्ति सम्भव न हो, यशादि की प्राप्ति सम्भव न हो, तो उनको कोई भटे के भी भाव न पूछे।

पैसे की प्रतिष्ठा आरोपित है, स्वयं की नहीं; अतः पैसों का लोभ भी आरोपित है।

रूप के लोभी, नाम के लोभी रुपये-पैसों को पानी की तरह बहाते कहीं भी देखे जा सकते हैं। कहीं कोई सुन्दर कन्या देखी और राजा साहब लुभा गये। फिर क्या ? कुछ भी हो, वह कन्या मिलनी ही चाहिए। ऐसे सैंकड़ों उदाहरण मिल जावेंगे पुराणों में, इतिहास में। राजा श्रेणिक चेलना के, पवनञ्जय अंजना के रूप पर ही तो लुभाए थे।

नाम के लोभी भी यह कहते मिलेंगे – भाई ! सबको एक दिन मरना ही है, कुछ करके जावो तो नाम अमर रहेगा। आत्मा को मरणशील और नाम को अमर मानने वाले और कौन हैं ? नाम के लोभी ही तो हैं। क्या दम है नाम की अमरता में ? एक नाम के अनेक व्यक्ति होते हैं, भविष्य में कौन जानेगा यह किसका नाम था ?

नाम की अमरता के लिए पाटियों पर नाम लिखानेवालो ! जरा यह तो सोचो – भरत चक्रवर्ती जब अपना नाम लिखने गये तो वहाँ चक्रवर्तियों के नाम से शिला भरी पाई। एक नाम मिटाकर अपना नाम लिखना पड़ा। वे सोचने लगे – आगे आने वाला चक्रवर्ती मेरा नाम मिटाकर अपना नाम लिखेगा।

और न जाने कितने-कितने प्रकार के लोभी होते हैं ? चार प्रकार के लोभ तो आचार्य अकलंकदेव ने ही 'राजवार्तिक' में गिनाए हैं – जीवन-लोभ, आरोग्य-लोभ, इन्द्रिय-लोभ और उपभोग-लोभ।

आचार्य अमृतचंद्र ने भी 'तत्त्वार्थसार' में चार प्रकार के लोभ की चर्चा की है। वे उसमें लिखते हैं :-

परिभोगोपभोगत्वं जीवितेन्द्रियभेदत: ।
चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्ति: शौचमुच्यते ।।१७।।

भोग, उपभोग, जीवन एवं इन्द्रियों के विषयों का – इसप्रकार लोभ चार प्रकार का होता है। इन चारों प्रकार के लोभ के त्याग का नाम शौचधर्म है।

उक्त दोनों प्रकारों में मात्र इतना ही अन्तर है कि अकलंकदेव ने उपभोग में भोग और उपभोग दोनों सम्मिलित कर लिये हैं तथा आरोग्य का लोभ अलग से भेद कर लिया है।

लोभ के उक्त प्रकारों में रुपये-पैसे का लोभ कहीं भी नहीं आता है।

लोभ के उक्त प्रकारों पर ध्यान दें तो पंचेन्द्रियों के विषयों के लोभ की ही प्रमुखता दिखाई देती है। भोग और उपभोग इन्द्रियों के विषय ही तो हैं। शारीरिक आरोग्य भी इन्द्रियों की विषय-ग्रहण शक्ति से ही सम्बन्धित है, क्योंकि पाँच इन्द्रियों के अतिरिक्त और शरीर क्या है? इन्द्रियों के समुदाय का नाम ही तो शरीर है। जीवन का लोभ भी शरीर के संयोग बने रहने की लालसा के अतिरिक्त क्या है? इसप्रकार हम देखते हैं कि पंचेन्द्रिय के विषयों में उक्त सभी प्रकार समा जाते हैं।

पंचेन्द्रियों के विषयों के लोभ में फंसे जीवों की दुर्दशा का चित्रण करते हुए तथा लोभ के त्याग की प्रेरणा देते हुए परमात्मप्रकाशकार इसप्रकार लिखते हैं :-

रूवि पयंगा सद्दि मय गय फासहि णासंति ।
अलिउल गंधइँ मच्छ रसि किम अणुराउ करंति ।।२।।११२।।
जोइय लोहु परिच्चयहि लोहु ण भल्लउ होइ ।
लोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ।।२।।११३।।

रूप के लोभी पतंगे दीपक पर पड़कर, कर्णप्रिय शब्द के लोभी हिरण शिकारी के बाण में बिंधकर, स्पर्श (काम) के लोभी हाथी हथिनी के लोभ से गड्ढे में पड़कर, गंध के लोभी भौंरे कमल में बंधकर, और रस के लोभी मच्छ धीवर के कांटे में बिंधकर या जाल में फँसकर दु:ख उठाते हैं, नाश को प्राप्त होते हैं। हे जीव! ऐसे विषयों का क्यों लोभ करते हो, उनसे अनुराग क्यों करते हो?

हे योगी ! तू लोभ को छोड़। यह लोभ किसी प्रकार अच्छा नहीं। क्योंकि सम्पूर्ण जगत इसमें फंसा हुआ दुःख उठा रहा है।

आत्मस्वभाव को आच्छन्न करने वाली शौचधर्म की विरोधी लोभकषाय जव अपनी तीव्रता में होती है तो अन्य कषायों को भी दवा देती है। लोभी व्यक्ति मानापमान का विचार नहीं करता। वह क्रोध को भी पी जाता है।

लोभ दूसरी कषायों को तो काटता ही है, स्वयं को भी काटता है। यश का लोभी धन का लोभ छोड़ देता है।

हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लोभियों की वृत्ति पर व्यंग करते हुए लिखते हैं :–

"लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के वल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान-अपमान में समान भाव रखते हैं। अव और चाहिये क्या ? जिससे वे कुछ पाने की आशा रखते हैं, वह यदि उन्हें दस गालियाँ भी देता है तो उनकी आकृति पर न रोष का कोई चिह्न प्रकट होता है और न मन में ग्लानि होती है। न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया। सुन्दर रूप देखकर अपनी एक कौड़ी भी नहीं भूलते। करुण से करुण स्वर सुनकर वे अपना एक पैसा भी किसी के यहाँ नहीं छोड़ते। तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ फैलाने में लज्जित नहीं होते।"[१]

वे और भी लिखते हैं :–

"पक्के लोभी लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं होते, कच्चे हो जाते हैं। किसी वस्तु को लेने के लिए कई आदमी खींचतान कर रहे हैं, उनमें से एक क्रोध में आकर वस्तु को नष्ट कर देता है, उसे पक्का लोभी नहीं कह सकते; क्योंकि क्रोध ने उसके लोभ को दवा दिया, वह लक्ष्य-भ्रष्ट हो गया।"[२]

लालसा, लालच, तृष्णा, अभिलाषा, चाह आदि लोभ के अनेक नाम हैं। प्रेम या प्रीति भी लोभ के ही नामान्तर हैं। जव लोभ किसी वस्तु के प्रति होता है तो उसे लोभ या लालच कहा जाता है, पर जव

---

[१] चिन्तामणि, भाग १, पृष्ठ ५८

[२] वही, पृष्ठ ५६

वही लोभ किसी व्यक्ति के प्रति होता है तो उसे प्रीति या प्रेम नाम दिया जाता है ।

पंचेन्द्रिय के विषयों के प्रति प्रेम लोभ ही तो है । पंचेन्द्रिय के विषय चेतन भी हो सकते हैं और अचेतन भी । चेतन विषयों के प्रति हुए रागात्मक भाव को प्रेम एवं अचेतन पदार्थों के प्रति हुए रागात्मक भाव को प्रायः लोभ कह दिया जाता है। पुरुष के स्त्री के प्रति आकर्षण को प्रेम की संज्ञा ही दी जाती है ।

इस सम्वन्ध में शुक्लजी के विचार और दृष्टव्य हैं :—

"पर साधारण बोल-चाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे 'लोभ' और किसी भी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है उसे 'प्रेम' कहते हैं । वस्तु और व्यक्ति के विषय-भेद से लोभ के स्वरूप और प्रवृत्ति में वहुत भेद पड़ जाता है, इससे व्यक्ति के लोभ को अलग नाम दिया गया है । पर मूल में लोभ और प्रेम दोनों एक ही हैं ।"[1]

परिष्कृत लोभ को उदात्त प्रेम, वात्सल्य आदि अनेक सुन्दर-सुन्दर नाम दिये जाते हैं; पर वे सव आखिर हैं तो लोभ के रूपान्तर हीं । माता-पिता, पुत्र-पुत्री आदि के प्रति होने वाले राग को पवित्र ही माना जाता है ।

कुछ लोभ तो इतना परिष्कृत होता है कि वह लोभ-सा ही नहीं दिखता । उसमें लोगों को धर्म का भ्रम हो जाता है । स्वर्गादि का लोभ इसीप्रकार का होता है ।

वात वुन्देलखण्ड की है, वहुत पुरानी । एक सेठ साहव को उनके स्नेही पंडितजी लोभी कहा करते थे । एक वार सेठ साहव ने पंडितजी से पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करवाने एवं गजरथ चलवाने का विचार व्यक्त किया तो पंडितजी तपाक से वोले – तुम जैसे लोभी क्या गजरथ चलायेंगे, क्या पंचकल्याणक करायेंगे ?

सेठ साहव के वहुत आग्रह करने पर उन्होंने कहा – अच्छा, आप करवाना ही चाहते हैं तो पांच हजार रुपया मंगाइये । पंडितजी का कहना था कि सेठ साहव ने तत्काल हजार-हजार रुपयों की पांच थैलियां लाकर पंडितजी के सामने रख दीं । उससमय नोटों का प्रचलन वहुत कम था । एक-एक थैली का वजन १०-१० किलो से भी अधिक था ।

---

[1] चिन्तामणि, भाग १, पृष्ठ ५६

पंडितजी के कहने पर पाँच मजदूर बुलवाये गये तथा उनको थैलियाँ देकर बेतवा नदी के किनारे चलने को कहा। साथ में सेठजी और पंडितजी भी थे।

गहरी धार के किनारे पहुँचकर पंडितजी ने सेठजी से कहा कि इन रुपयों को नदी की गहरी धार में फेंक दो और घर चलकर गजरथ की तैयारी करो। जब सेठजी बिना मीन-मेख किये फेंकने को तैयार हो गये तो पंडितजी ने रोक दिया और कहा अब तुम पंच-कल्याणक करा सकते हो। तात्पर्य यह कि यह समझो कि पाँच हजार तो पानी में गये, अब और हिम्मत हो तो आगे बात करो।

उस समय के पाँच हजार आज के पाँच लाख के बराबर थे। पंडितजी सेठजी का हृदय देखना चाहते थे। बाद में बहुत जोरदार पंचकल्याणक हुआ। सेठजी ने दिल खोलकर खर्च किया।

अन्त में 'अब आप मुझसे एक बार और लोभी कहिये' – कहकर सेठ साहब पंडितजी की ओर देखकर मुस्कुराने लगे।

तब पंडितजी ने कहा – 'लोभी, लोभी और महालोभी।'

क्यों और कैसे? ऐसा पूछने पर वे कहने लगे – इसलिए कि जब आपसे यह धन यहाँ न भोगा जा सका तो अगले भव में ले जाने के लिए यह सब-कुछ कर डाला। अगले भव तक के लिए भोगों का इन्तजाम करने वाले महालोभी नहीं तो क्या निर्लोभी होंगे?

स्वर्गादि के लोभ में धर्म के नाम पर सब-कुछ करना यद्यपि लोभ ही है, तथापि ऐसे लोभी जगत में धर्मात्मा-से दिखते हैं।

आचार्यों ने तो मोक्ष के चाहने वालों को भी लोभियों में ही गिना है; क्योंकि आखिर चाह लोभ ही तो है, चाहे किसी की भी क्यों न हो।

आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पंडित टोडरमलजी ने 'धर्म के लोभी' शब्द का भी प्रयोग किया है, जो इसप्रकार है :–

"कदाचित् धर्म के लोभी अन्य जीव–याचक–उनको देखकर राग अंश के उदय से करुणाबुद्धि हो तो उनको धर्मोपदेश देते हैं।"[1]

आचार्य अमतचन्द्र ने ज्ञेय के लोभियों की भी चर्चा की है।[2]

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४

[2] समयसार गाथा १५ की आत्मख्याति टीका में

धर्म और धर्मात्माओं के प्रति उत्पन्न हुए राग को तो धर्म तक कह दिया जाता है, वह भी जिनवाणी में भी; पर वह सब व्यवहार का कथन होता है। उसमें ध्यान रखने की वात यह है कि राग लोभान्त-कषायों का ही भेद है, वह अकषायरूप नहीं हो सकता। जब अकषायभाव – वीतरागभाव का नाम धर्म है, तो रागभाव – कषाय-भाव धर्म कैसे हो सकता है? अतः यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि लोभादिकषायरूपात्मक है स्वरूप जिसका, ऐसा राग चाहे वह मन्द हो चाहे तीव्र, चाहे शुभ हो चाहे अशुभ, चाहे अशुभ के प्रति हो चाहे शुभ के प्रति; वह धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि है तो आखिर वह राग (लोभ) रूप ही।

यह वात सुनकर चौंकिये नहीं, जरा गम्भीरता से विचार कीजिए। शास्त्रों में लोभ की सत्ता दशवें गुणस्थान तक कही है। तो क्या छठवें गुणस्थान से लेकर दशवें गुणस्थान तक विचरण करने वाले परमपूज्य भावलिंगी मुनिराजों को विषयों के प्रति लोभ होता होगा? नहीं, कदापि नहीं। उनके लोभ का आलम्बन धर्म और धर्मात्मा ही हो सकते हैं।

आप कह सकते हैं कि जिनके तन पर धागा भी नहीं, जो सर्वपरिग्रह के त्यागी हैं – ऐसे कुन्दकुन्द आदि मुनिराजों के भी लोभ? कैसी वातें करते हो? पर भाई! ये वातें मैं नहीं कर रहा, शास्त्रों में हैं, और सभी शास्त्राभ्यासी इन वातों को अच्छी तरह जानते हैं।

अतः जब लोभ का वास्तविक अर्थ समझना है तो उसे व्यापक अर्थ में ही समझना होगा। उसे मात्र रुपये-पैसे तक सीमित करने से काम नहीं चलेगा।

आप यह भी कह सकते हैं कि अपनी वात तो करते नहीं, मुनिराजों की वात करने लगे। पर भाई! यह क्यों भूल जाते हो कि यह शौचधर्म के प्रसंग में वात चल रही है और शौचधर्म का वर्णन शास्त्रों में मुनियों की अपेक्षा ही आया है। उत्तमक्षमादि दशधर्म तत्त्वार्थसूत्र में गुप्ति-समितिरूप मुनिधर्म के साथ ही वर्णित हैं।

वहुत-सा लोभ जिसे आचार्यों ने पाप का बाप कहा है आज धर्म बन के बैठा है। धर्म के ठेकेदार उसे धर्म सिद्ध करने पर उतारू हैं। उसे मोक्ष तक का कारण मान रहे हैं और नहीं मानने वालों को कोस रहे हैं।

पच्चीस कषाएँ राग-द्वेष में गर्भित हैं। उनमें चार प्रकार का क्रोध, चार प्रकार का मान, अरति, शोक, भय एवं जुगुप्सा ये बारह कषाएँ – द्वेष हैं; और चार प्रकार की माया, चार प्रकार का लोभ, तीन प्रकार के वेद, रति एवं हास्य ये तेरह कषाएँ – राग हैं।

इसप्रकार जब चारों प्रकार का लोभ राग में गर्भित है, तब राग को धर्म मानने वालों को सोचना चाहिए कि वे लोभ को धर्म मान रहे हैं; पर लोभ तो पाप ही नहीं, पाप का बाप है।

राग चाहे मन्द हो, चाहे तीव्र; चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ; वह होगा तो राग ही। और जब वह राग है तो वह या तो माया होगा या लोभ या वेद या रति या हास्य। इनके अतिरिक्त तो राग का और कोई प्रकार है ही नहीं शास्त्रों में – हो तो बतायें? ये तेरह कषाएँ ही राग हैं। अतः राग को धर्म मानने का अर्थ है कषाय को धर्म मानना, जबकि धर्म तो अकषायभाव का नाम है।

चारित्र ही साक्षात् धर्म है। और वह मोह तथा क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित अकषायभावरूप आत्मपरिणाम ही है। दशधर्म भी चारित्र के ही रूप हैं। अतः वे भी अकषायरूप ही हैं।

शौचधर्म – उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव से भी बड़ा धर्म है; क्योंकि शौचधर्म की विरोधी लोभकषाय का अन्त क्रोध, मान, माया आदि समस्त कषायों के अन्त में होता है। अतः जिसका लोभ पूर्णतः समाप्त हो गया, उसके क्रोधादि समस्त कषाएँ निश्चितरूप से समाप्त हो गयीं। पच्चीसों कषायों में सबसे अन्त तक रहने वाली लोभकषाय ही है। क्रोधादि पूरे चले जाएँ तब भी लोभ रह सकता है, पर लोभ के पूर्णतः चले जाने पर क्रोधादि की उपस्थिति भी सम्भव नहीं है।

यही कारण है कि सबसे खतरनाक कषाय लोभ है और सबसे बड़ा धर्म शौच है। कहा भी है :–

'शौच सदा निरदोष, धर्म बड़ो संसार में।'

उक्त कथन से एक बात यह भी प्रतिफलित होती है कि शौचधर्म मात्र लोभकषाय के अभाव का ही नाम नहीं, वरन् लोभान्त-कषायों के अभाव का नाम है। क्योंकि यदि पवित्रता का नाम ही शौचधर्म है तो क्या सिर्फ लोभकषाय ही आत्मा को अपवित्र करती है, अन्य कषाएँ नहीं? यदि सभी कषाएँ आत्मा को अपवित्र करती हैं, तो फिर समस्त कषायों के अभाव का नाम ही शौचधर्म होना चाहिए।

यदि आप कहें कि क्रोध का अभाव तो क्षमा है, मान का अभाव मार्दव है, और माया का अभाव आर्जव है; अब लोभ ही बचा, अतः उसका अभाव शौच हो गया। तब मैं कहूँगा कि क्या क्रोध, मान, माया और लोभ ही कषाएँ हैं; हास्य, रति, अरति कषाएँ नहीं; भय, जुगुप्सा और शोक कषाएँ नहीं; स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक-वेद कषाएँ नहीं ? – ये भी तो कषाएँ हैं। क्या ये आत्मा को अपवित्र नहीं करतीं ?

यदि करती हैं तो फिर पच्चीसों कषायों के अभाव को शौचधर्म कहा जाना चाहिए, न कि मात्र लोभ के अभाव को।

अब आप कह सकते हैं कि भाई हमने थोड़े ही कहा है – शास्त्रों में लिखा है, आचार्यों ने कहा है।

पर भाई साहब ! यही तो मैं कहता हूँ कि शास्त्रों में लोभ के अभाव को शौच कहा है और लोभ के पूर्णतः अभाव होने के पहिले सभी कषायों का अभाव हो जाता है, अतः स्वतः ही सिद्ध हो गया कि सभी प्रकार के कषायभावों से आत्मा अपवित्र होता है और सभी कषायों के अभाव होने पर शौचधर्म प्रकट होता है।

लोभान्त माने लोभ है अन्त में जिनके – ऐसी सभी कषाएँ। चूंकि लोभ पच्चीसों कषायों के अन्त में समाप्त होता है, अतः लोभान्त में पच्चीसों कषाएँ आ जाती हैं।

यह पूर्ण शौचधर्म की बात है। अंशरूप में जितना-जितना लोभान्त-कषायों का अभाव होगा, उतना-उतना शौचधर्म प्रकट होता जावेगा।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब क्रोधादि सभी कषाएँ आत्मा को अपवित्र करती हैं तो क्रोध के जाने पर भी आत्मा में कुछ न कुछ पवित्रता प्रकट होगी ही, अतः क्रोध के अभाव को या मान के अभाव को शौचधर्म क्यों नहीं कहा; लोभ के अभाव को ही क्यों कहा ?

इसका भी कारण है और वह यह कि क्रोध के पूर्णतः चले जाने पर भी आत्मा में पूर्ण पवित्रता प्रकट नहीं होती, क्योंकि लोभ तब भी रह सकता है। पर लोभ के पूर्णतः चले जाने पर कोई भी कषाय नहीं रहती है। अतः पूर्ण पवित्रता को लक्ष में रखकर ही लोभ के अभाव को शौचधर्म कहा है। अंशरूप से जितना कषायभाव कम होता है, उतनी शुचिता आत्मा में प्रकट होती ही है।

लोभकषाय सबसे मजबूत कषाय है। यही कारण है कि वह सबसे अन्त तक रहती है। जब इसका भी अभाव हो जाता है तब शौचधर्म प्रकट होता है, अतः वह महान धर्म है।

इस महान शौचधर्म को लोगों ने नहाने-धोने तक सीमित कर दिया है। नहाना-धोना बुरा है – यह मैं नहीं कहता; पर उसमें वास्तविक शुचिता नहीं, उससे शौचधर्म नहीं होता। शौचधर्म का जैसा प्रकर्ष अस्नानव्रती मुनिराजों के होता है, वैसा दिन में तीन-तीन बार नहाने वाले गृहस्थों के नहीं।

पूजनकार ने कहा भी है :–

प्राणी सदा शुचि शील जप तप, ज्ञान ध्यान प्रभावतें।
नित गंगजमुन समुद्र नहाये, अशुचि दोष सुभावतें।।
ऊपर अमल मल भर्यो भीतर, कौन विधि घट शुचि कहै।
बहु देह मैली सुगुन थैली, शौच गुन साधू लहै।।

स्वभाव से तो आत्मा परम पवित्र है ही; पर्याय में जो मोह-राग-द्वेष की अपवित्रता है, वह नहाने-धोने से जाने वाली नहीं। वह आत्मज्ञान, आत्मध्यान, शील-संयम, जप-तप के प्रभाव से ही जायगी। देह तो हाड़-मांस से बनी होने से स्वभावतः ही अशुचि है। यह गंगा-जमुना में मल-मलकर नहाने से पवित्र होने वाली नहीं है। यह देह तो उस घड़े के समान है जो ऊपर से निर्मल दिखाई देता है, पर जिसके भीतर मल भरा हो। ऐसे घड़े को कितना ही मल-मलकर शुद्ध करो वह पवित्र होने वाला नहीं। उसीप्रकार यह शरीर है; इसकी कितनी ही सफाई करो, जब यह मैल से ही बना है तो पवित्र कैसे हो सकता है ?

यद्यपि यह देह मैली है तथापि इसमें अनन्तगुणों का पिण्ड आत्मा विद्यमान है, अतः एक प्रकार से यह सुगुणों की थैली है। यही कारण है कि देह की सफाई पर ध्यान भी न देने वाले मुनिराज आत्मगुणों का विकास करके शौचधर्म को प्रकट करते हैं।

दूसरी बात यह भी तो है कि शौचधर्म आत्मा का धर्म है, शारीरिक अपवित्रता से उसको क्या लेना-देना ? फिर शरीर तो मैल का ही बना है। खून, माँस, हड्डी आदि के अतिरिक्त और शरीर है ही क्या ? जब ये सभी पदार्थ अपवित्र हैं तो फिर इन सबके समुदाय-रूप शरीर को पवित्र कैसे किया जा सकता है ?

इसी बात को स्पष्ट करते हुए मैंने बहुत पहले लिखा था :–

यदि हड्डी अपवित्र है, तो वह तेरी नाँहि।
और खून भी अशुचि है, वह पुद्गल परछाँहि ।।
तेरी शुचिता ज्ञान है, और अशुचिता राग।
राग-आग को त्याग कर, निज को निज में पाग ।।

खून, माँस और हड्डी की अपवित्रता तो देह की बात है। आत्मा की अपवित्रता तो मोह-राग-द्वेष है तथा आत्मा की पवित्रता ज्ञानानन्दस्वभाव एवं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

अतः आत्मा को अपवित्र करने वाले मोह-राग-द्वेष को कम करने के लिए अपने को जानिये, अपने को पहचानिये, और अपने में ही समा जाइये। 'निज को निज में पाग' का यही आशय है।

राग-द्वेष में पच्चीसों कषाएँ आ जाती हैं। इनमें लोभकषाय राग में आती है, यह सब पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

जरा विचार तो करो ! ये राग-द्वेषभाव हड्डी-खून-माँस आदि से भी अधिक अपवित्र हैं; क्योंकि हड्डी-खून-माँस उपस्थित रहते हैं – फिर भी पूर्ण पवित्रता, केवलज्ञान और अनन्तसुख प्रकट हो जाते हैं, आत्मा अमल हो जाता है। किन्तु यदि रंचमात्र भी राग रहे; चाहे वह मंद से मंदतर एवं मंदतम ही क्यों न हो, कितना भी शुभ क्यों न हो – तो केवलज्ञान व अनन्तसुख नहीं हो सकता।

आत्मा पहिले वीतरागी होता है फिर सर्वज्ञ। सर्वज्ञ होने के लिए वीतरागी होना जरूरी है; वीतदेह नहीं, वीतहड्डी नहीं, वीतखून भी नहीं। इससे सिद्ध है कि रागभाव हड्डी और खून से भी अधिक अपवित्र है। इस पर भी हम उसे धर्म माने बैठे हैं।

यह सुनकर लोग चौंक उठते हैं। कहने लगते हैं कि आप कैसी बातें करते हैं – तीर्थंकर भगवान की हड्डी वज्र (वज्रवृषभनाराच संहनन) की होती है, खून बिल्कुल सफेद दूध जैसा होता है, उन्हें आप अपवित्र कहते हैं ? पर भाई साहब ! आप यह क्यों भूल जाते हैं कि खून तो खून ही है, वह चाहे सफेद हो या लाल। इसीप्रकार हड्डी तो हड्डी ही है, वह चाहे कमजोर हो या मजबूत।

मूल बात यह है कि खून और हड्डी चाहे पवित्र हों या अपवित्र, उनका आत्मा की पवित्रता से कोई सम्बन्ध नहीं है। खून और

हड्डियाँ एक-सी होने पर भी अव्रती-मिथ्यादृष्टि अपवित्र हैं और सम्यग्दृष्टि व्रती-महाव्रती पवित्र हैं।

इससे यह सहज सिद्ध है कि आत्मा की पवित्रता वीतरागता में है और अपवित्रता मोह-राग-द्वेष में; खून-माँस-हड्डी का उससे कोई सम्बन्ध नहीं।

वादिराज मुनिराज के शरीर में कोढ़ हो गया था, फिर भी वे परम पवित्र थे, शौचधर्म के धनी थे। गृहस्थावस्था में सनतकुमार चक्रवर्ती की जब कंचन जैसी काया थी, जिनके सौन्दर्य की चर्चा इन्द्रसभा में भी चलती थी, जिसे सुनकर देवगण उनके दर्शनार्थ आते थे; तब तो उनके उस स्तर का शौचधर्म नहीं था, जिस स्तर का मुनि अवस्था में था। जबकि मुनि अवस्था में उनके शरीर में कोढ़ हो गया था, जो सातसौ वर्ष तक रहा। उस कोढ़ी दशा में भी उनके तीन कषाय के अभावरूप शौचधर्म मौजूद था।

जरा विचार तो करो कि शौचधर्म क्या है? इसे शरीर की शुद्धि तक सीमित करना तत्सम्बन्धी अज्ञान ही है।

व्यवहार से उसे भी कहीं-कहीं शौचधर्म कह दिया जाता है, पर वस्तुतः लोभान्त-कषायों का अभाव ही शौचधर्म है। दूसरे शब्दों में वीतरागता ही वास्तविक शौचधर्म है।

पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान प्रतिदिन नहाने वालों को नहीं, जीवन भर नहीं नहाने की प्रतिज्ञा करने वालों को प्राप्त होते हैं।

लोग कहते हैं – हड्डी आदि अपवित्र पदार्थों के छू जाने पर तो नहाना ही पड़ता है?

हाँ! हाँ!! नहाना पड़ता है, पर किसे? हड्डियों को ही न? आत्मा तो अस्पर्शस्वभावी है, उसे तो पानी छू भी नहीं सकता है। हड्डियाँ ही नहाती हैं।

यदि ऐसी बात है तो फिर मुनिराज नहाने का त्याग क्यों करते हैं?

मुनिराज नहाने का नहीं, नहाने के राग का त्याग करते हैं। और जब नहाने का राग ही उन्हें नहीं रहा, तो फिर नहाना कैसे हो सकता है?

कैसी विचित्र बात है कि इस हड्डियों के शरीर को हड्डी छू जाने से नहाना पड़ता है। हम सब मुँह से रोटी खाते हैं, दाँतों से उसे चबाते हैं। दाँत क्या हैं ? हड्डियाँ ही तो हैं। जब तक दाँत मुँह में हैं – छूत हैं; अपने स्थान से हटते ही अछूत हो जाते हैं। इस पर लोग कहते हैं – यह जीवित हड्डी और वह मरी हड्डी। उनकी दृष्टि में हड्डियाँ भी जीवित और मरी – दो प्रकार की होती हैं।

जो कुछ भी हो, ये सब बातें व्यवहार की हैं। संसार में व्यवहार चलता ही है। और जब तक हम संसार में हैं तब तक हम सब व्यवहार निभाते ही हैं, निभाना भी चाहिये। पर मुक्तिमार्ग में उसका कोई स्थान नहीं है।

यही कारण है कि मुक्ति के पथिक मुनिराज इन व्यवहारों से अतीत होते हैं; वे व्यवहारातीत होते हैं।

अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान – इन तीन कषायों के अभावरूप वास्तविक शौचधर्म – निश्चयारूढ़-व्यवहारातीत मुनिराजों के ही होता है, क्योंकि उन्होंने परमपवित्र ज्ञानानंदस्वभावी निजात्मा का अतिउग्र आश्रय लिया है। वे आत्मा में ही जम गये हैं, उसी में रम गये हैं।

अनन्तानुबंधी व अप्रत्याख्यान इन दो कषायों के अभाव में एवं मात्र अनन्तानुबंधी के अभाव में होने वाला शौचधर्म क्रमशः देशव्रती व अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावकों के होता है। सम्यग्दृष्टि और देशव्रती श्रावकों के होने वाला शौचधर्म यद्यपि वास्तविक ही है; तथापि उसमें वैसी निर्मलता नहीं हो पाती जैसी मुनिदशा में होती है। पूर्णतः शौचधर्म तो वीतरागी सर्वज्ञों के ही होता है।

स्वभाव से तो सभी आत्माएँ परमपवित्र ही हैं, विकृति मात्र पर्याय में है। पर जब पर्याय परमपवित्र आत्मस्वभाव का आश्रय लेती है, तो वह भी पवित्र हो जाती है। पर्याय के पवित्र होने का एकमात्र उपाय परमपवित्र आत्मस्वभाव का आश्रय लेना है। 'पर' के आश्रय से पर्याय में अपवित्रता और 'स्व' के आश्रय से पवित्रता प्रकट होती है।

समयसार गाथा ७२ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र आत्मा को अत्यन्त पवित्र एवं मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभावों को अपवित्र बताते हैं। उन्होंने आस्रवतत्त्व को अशुचि लिखा है, जीवतत्त्व और अजीव

तत्त्व को नहीं। आत्मा जीव है, शरीर अजीव है – दोनों ही अपवित्र नहीं; अपवित्र तो आस्रव है, जो लोभादि कषायोंरूप है।

स्वभाव की शुचिता में ऐसी सामर्थ्य है कि उस पर जो पर्याय झुके, उसको जो पर्याय छुए, वह उसे पवित्र बना देती है। पवित्र कहते ही उसे हैं जिसको छूने से छूने वाला पवित्र हो जाय। वह कैसा पवित्र, जो दूसरों के छूने से अपवित्र हो जाय ? पारस तो उसे कहते हैं, जिसके छूने पर लोहा सोना हो जाय। जिसके छूने से सोना लोहा हो जावे, वह थोड़े ही पारस कहा जायगा। इसीप्रकार जो अपवित्र पर्याय के छूने से अपवित्र हो जाय वह स्वभाव कैसा ? स्वभाव तो उसका नाम है जिसके आश्रय से पर्याय भी पवित्र हो जावे।

पवित्र स्वभाव को छूकर जो पर्याय स्वयं पवित्र हो जाय, उस पर्याय का नाम ही शौचधर्म है।

आत्मस्वभाव के स्पर्श बिना अर्थात् आत्मा के अनुभव बिना शौचधर्म का आरम्भ भी नहीं होता। शौचधर्म का ही क्या, सभी धर्मों का आरम्भ आत्मानुभूति से ही होता है। आत्मानुभूति उत्तम क्षमादि सभी धर्मों की जननी है।

अतः जिन्हें पर्याय में पवित्रता प्रकट करनी हो अर्थात् जिन्हें शौचधर्म प्राप्त करना हो, वे आत्मानुभूति प्राप्त करने का यत्न करें आत्मोन्मुख हों।

सभी आत्माएँ आत्मोन्मुख होकर अपनी पर्याय में परमपवित्र शौचधर्म को प्राप्त करें, इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

उत्तमसत्य

सत्यधर्म की चर्चा जब भी चलती है, तब-तब प्रायः सत्यवचन को ही सत्यधर्म समझ लिया जाता है। सत्यधर्म के नाम पर सत्य-वचन के ही गीत गाये जाने लगते हैं।

कहा जाता है कि सत्य बोलना चाहिए, झूठ कभी नहीं बोलना चाहिए; झूठे का कोई विश्वास नहीं करता। दुकानदारी में भी जिसकी एक बार सत्यता की धाक जम गई सो जम गई, फिर चाहे दुगने पैसे भी क्यों न लें, कोई नहीं पूछता।

जरा विचार तो करो कि यह सत्यवचन बोलनेका उपदेश है या सत्य की ओट में लूटने का। मेरे कहने का प्रयोजन यह है कि हम सत्यवचन का भी सही प्रयोजन नहीं समझते हैं तो फिर सत्यधर्म की बात तो बहुत दूर है।

सामान्यजन तो सत्यवचन को सत्यधर्म समझते ही हैं; किन्तु आश्चर्य तो तब होता है कि जब सत्यधर्म पर वर्षों से व्याख्यान करने वाले विद्वज्जन भी सत्यवचन से आगे नहीं बढ़ते हैं।

यद्यपि सत्यवचन को भी जिनागम में व्यवहार से सत्यधर्म कह दिया गया है और उस पर विस्तृत प्रकाश भी डाला है, उसका भी अपना महत्त्व है, उपयोगिता है; तथापि जब गहराई में जाकर निश्चय से विचार करते हैं तो सत्यवचन और सत्यधर्म में महान अन्तर दिखाई देता है। सत्यधर्म और सत्यवचन बिल्कुल भिन्न-भिन्न दो चीजें प्रतीत होती हैं।

ध्यान रहे यहाँ पर जिनागम में वर्णित उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमशौच, उत्तमसत्य आदि दशधर्मों में जो उत्तमसत्य-धर्म कहा गया है – उसकी चर्चा अपेक्षित है। यहाँ सत्यधर्म का समस्त विश्लेषण उक्त प्रसंग में ही किया जा रहा है।

गाँधीजी ने भी सत्य को वचन की सीमा से ऊपर स्वीकार किया है। वे सत्य को ईश्वर के रूप में देखते हैं (Truth is God)।

जहाँ सत्य की खोज, सत्य की उपासना की बात चलती है, वहाँ निश्चितरूप से सत्यवचन की खोज अपेक्षित नहीं होती वरन् कोई

ऐसा महत्त्वपूर्ण अव्यक्त सत्य अपेक्षित होता है जो उपास्य हो, आश्रय के योग्य हो। दार्शनिकों और आध्यात्मिकों का उपास्य, आश्रयदाता सत्य मात्रवचनरूप नहीं हो सकता। जिसके आश्रय से धर्म प्रकट हो, जो अनन्त सुख-शान्ति का आश्रय बन सके; ऐसा सत्य कोई महान चेतनतत्त्व ही हो सकता है, उसे वाग्विलास तक सीमित नहीं किया जा सकता। उसे वचनों तक सीमित करना स्वयं ही सबसे बड़ा असत्य है।

आचार्यों ने वाणी की सत्यता और वाणी के संयम पर भी विचार किया है, पर उसे सत्यधर्म से अलग ही रखा है। वाणी की सत्यता और वाणी के संयम को जीवन में उतारने के लिए उन्होंने उसे चार स्थानों पर बांधा है – (१) सत्याणुव्रत, (२) सत्यमहाव्रत, (३) भाषासमिति और (४) वचनगुप्ति।

मुख्यरूप से स्थूल झूठ नहीं बोलना सत्याणुव्रत है। सूक्ष्म भी झूठ नहीं बोलना, सदा सत्य ही बोलना सत्यमहाव्रत है। सत्य भी कठोर, अप्रिय, असीमित न बोलकर; हित-मित एवं प्रियवचन बोलना भाषासमिति है; और बोलना ही नहीं, वचनगुप्ति है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिनागम में वचन को सत्य एवं संयमित रखने के लिए उसे चार स्थानों पर प्रतिबंधित किया है। तात्पर्य यह है कि यदि बिना बोले चल जावे तो बोलो ही मत, न चले तो हित-मित-प्रिय वचन बोलो और वह भी पूर्णतः सत्य, यदि सूक्ष्म असत्य से न बच सको तो स्थूल असत्य तो कभी न बोलो।

यहाँ वचन को अस्ति (पॉज़िटिव) और नास्ति (निगेटिव) दोनों ओर से पकड़ लिया है। सत्याणुव्रत, सत्यमहाव्रत और भाषासमिति में क्या बोलें और कैसे बोलें के रूपमें अस्ति (पॉज़िटिव) को तथा वचनगुप्ति में बोलें ही नहीं (मौन) के रूपमें नास्ति (निगेटिव) को ले लिया है। इस तरह यहाँ बोलना और नहीं बोलना वाणी के दोनों ही पहलुओं को ले लिया गया है।

वाणी को इतना संयमित कर देने के बाद अब क्या शेष रह जाता है कि जिस कारण सत्यधर्म को भी आप भाषा की सीमा में बांधना चाहते हैं?

सत्यधर्म को वचन तक सीमित कर देने से एक बड़ा नुकसान यह हुआ कि उसकी खोज ही खो गई। जिसकी खोज जारी हो

उसका मिलना सम्भव है, पर जिसकी खोज ही खो गई हो वह कैसे मिले ? जब तक सत्य को समझते नहीं, खोज चालू रहती है। किन्तु जब किसी गलत चीज को सत्य मान लिया जाता है तो उसकी खोज भी बन्द कर दी जाती है। जब खोज ही बन्द कर दी जावे तो फिर मिलने का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ?

हत्यारे की खोज तभी तक होती है जब तक कि हत्या के अपराध में किसी को पकड़ा नहीं जाता। जिसने हत्या नहीं की हो, यदि उसे हत्या के अपराध में पकड़ लिया जाय, सजा दे दी जाय, तो असली हत्यारा कभी नहीं पकड़ा जायगा। क्योंकि अब तो फाइल ही बन्द हो गई, अब तो जगत की दृष्टि में हत्यारा मिल ही गया, उसे सजा भी मिल गई। अब खोज का क्या काम ? जब खोज बन्द हो गई तो असली हत्यारे का मिलना भी असम्भव है।

इसीप्रकार जब सत्यवचन को सत्यधर्म मान लिया गया तो फिर असली सत्यधर्म की खोज का प्रश्न ही कहाँ रहा ? सत्यवचन को सत्यधर्म मान लेने से सबसे बड़ी हानि यह हुई कि सत्यधर्म की खोज खो गई।

सत्यधर्म क्या है ? यह नहीं जानने वाले जिज्ञासु कभी न कभी सत्यधर्म को पा लेंगे, क्योंकि उनकी खोज चालू है; पर सत्यवचन को ही सत्यधर्म मानकर बैठ जाने वालों को सत्य पाना सम्भव नहीं।

अणुव्रत गृहस्थों के होते हैं, मुनियों के नहीं। महाव्रत मुनियों के होते हैं, गृहस्थों के नहीं। इसीप्रकार भाषासमिति और वचनगुप्ति मुनियों के होती हैं, गृहस्थों के नहीं। अणुव्रत, महाव्रत, गुप्ति और समिति गृहस्थों और मुनियों के होते हैं; सिद्धों के नहीं, अविरत सम्यग्दृष्टियों के भी नहीं। जबकि उत्तमक्षमादि दशधर्म अपनी-अपनी भूमिकानुसार अविरत सम्यग्दृष्टियों से लेकर सिद्धों तक पाये जाते हैं।

वाणी पुद्गल की पर्याय है और सत्य है आत्मा का धर्म। आत्मा का धर्म आत्मा में रहता है, शरीर और वाणी में नहीं। जो आत्मा के धर्म हैं, उनका सम्पूर्ण-धर्मों के धनी सिद्धों में होना अनिवार्य है। उत्तमक्षमादि दशधर्म जिनमें सत्यधर्म भी शामिल है, सिद्धों में विद्यमान है; पर उनमें सत्यवचन नहीं है। अतः सिद्ध होता है कि निश्चय से सत्यवचन सत्यधर्म नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि क्या अणुव्रत, महाव्रत धर्म नहीं ? क्या समिति, गुप्ति भी धर्म नहीं ?

अणुव्रत और महाव्रतों को आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में आस्रवाधिकार में लिया है। यद्यपि उन्हें कहीं-कहीं उपचार से धर्म कहा है, पर जो आस्रव हों, बंध के कारण हों; उन्हें निश्चय से धर्म संज्ञा कैसे हो सकती है ?

गुप्ति, समिति भी उत्तमसत्यधर्म नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि जिस उत्तमसत्यधर्म की चर्चा यहाँ चल रही है; गुप्ति, समिति वह धर्म नहीं हैं।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि गुप्ति, समिति आदि के अतिरिक्त पृथक्‌रूप में दशधर्मों की चर्चा आचार्यों ने की है। यदि सभी को धर्म ही कहना है तो इनको अलग से धर्म कहने का क्या प्रयोजन? जिस अपेक्षा से इन्हें पृथक् से धर्म कहा है उसी अपेक्षा से मैं कहना चाहूँगा कि वे सब इन दशधर्मों में से कोई धर्म नहीं हैं। अथवा जिसकी चर्चा चल रही है वह 'सत्यधर्म' वे नहीं हैं। अधिक स्पष्ट कहूँ तो निश्चय से वचन का सत्यधर्म से कोई वास्ता नहीं है। क्योंकि अणुव्रतियों और महाव्रतियों का सत्य बोलना सत्याणुव्रत और सत्यमहाव्रत में जायगा, हित-मित-प्रिय बोलना भाषासमिति में तथा नहीं बोलना वचनगुप्ति में समाहित हो जायगा। अब वचन की ऐसी कोई स्थिति शेष नहीं रहती जिसे सत्यधर्म में डाला जावे।

यदि सत्य बोलने को सत्यधर्म मानें तो सिद्धों के सत्यधर्म नहीं रहेगा, क्योंकि वे सत्य नहीं बोलते। वे बोलते ही नहीं तो फिर सत्य और झूठ का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? क्या सत्यधर्म के धारी को बोलना जरूरी है ? *क्या जीवनभर मौन रहने वाला सत्यधर्म का धारी नहीं हो सकता ?*

इससे बचने के लिए यदि यह कहा जाय कि वे सत्य तो नहीं बोलते, पर झूठ भी तो नहीं बोलते; अतः उनके सत्यधर्म है। तो फिर सत्य बोलना सत्यधर्म नहीं रहा, बल्कि झूठ नहीं बोलना सत्यधर्म हुआ। पर यह बात भी तर्क की तुला पर सही नहीं उतरती। क्योंकि यदि झूठ नहीं बोलने को सत्यधर्म मानें तो फिर वचन-व्यवहार से रहित एकेन्द्रियादि जीवों को सत्यधर्म का धारी मानना होगा, क्योंकि वे भी कभी झूठ नहीं बोलते। जब वे बोलते ही नहीं तो फिर झूठ बोलने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? इसप्रकार हम देखते हैं कि न तो सत्य बोलना ही सत्यधर्म है और न झूठ नहीं बोलना ही।

सीधी-सी वात यह है कि जिस सत्यधर्म की चर्चा यहाँ चल रही है, वह न सत्य वोलने में है, न हित-मित-प्रिय वोलने में; वह वोलने के निषेधरूप मौन में भी नहीं। क्योंकि ये सव वाणी के धर्म हैं और विवक्षित सत्यधर्म आत्मा का धर्म है।

जो वास्तविक धर्म हैं, वे पूर्णतः प्रकट हो जाने के वाद समाप्त नहीं होते। उत्तमक्षमादिधर्म सिद्धावस्था में भी रहते हैं, पर अणुव्रत-महाव्रत एक अवस्थाविशेष में ही रहते हैं। वे उस अवस्था के धर्म हो सकते हैं, आत्मा के नहीं। गृहस्थ अणुव्रत ग्रहण करता है, किन्तु जव वही गृहस्थ मुनिधर्म अंगीकार करता है तो महाव्रत ग्रहण करता है, अणुव्रत छूट जाते हैं। जो छूट जावे वह धर्म कैसा ?

अणुव्रत, महाव्रत, गुप्ति, समिति – ये सव पड़ाव हैं, गन्तव्य नहीं, प्राप्तव्य नहीं, अन्तिम लक्ष्य नहीं; अन्तिम लक्ष्य सिद्ध अवस्था है। उसमें भी रहने वाले उत्तमक्षमादिधर्म जीव के वास्तविक धर्म हैं।

अव हमें उस सत्यधर्म को समझना है जो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक चतुर्गति के सभी मिथ्यादृष्टि जीवों में नहीं पाया जाता एवम् सम्यग्दृष्टि से लेकर सिद्धों तक सभी सम्यग्दृष्टि जीवों में अपनी-अपनी भूमिकानुसार पाया जाता है।

द्रव्य का लक्षण सत् है। आत्मा भी एक द्रव्य है, अतः वह सत्स्वभावी है। सत्स्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा में जो शान्ति-स्वरूप वीतराग परिणति उत्पन्न होती है, उसे निश्चय से सत्यधर्म कहते हैं। सत्य के साथ लगा 'उत्तम' शव्द मिथ्यात्व के अभाव और सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। मिथ्यात्व के अभाव विना तो सत्यधर्म की प्राप्ति ही सम्भव नहीं है।

जव तक यह आत्मा वस्तु का – विशेषकर आत्मवस्तु का, सत्य स्वरूप नहीं समझेगा, तव तक सत्यधर्म की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है। जिसकी उत्पत्ति ही न हुई हो उसकी वृद्धि और सम्वृद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मवस्तु की सच्ची समझ आत्मानुभव के विना सम्भव नहीं है। मिथ्यात्व के अभाव और सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए प्रयोजनभूत अनात्म वस्तुओं का तो मात्र सत्यज्ञान ही अपेक्षित है, किन्तु आत्मवस्तु के ज्ञान के साथ-साथ अनुभूति भी आवश्यक है। अनुभूति के विना सम्यक् आत्मज्ञान सम्भव नहीं है।

उत्तमसत्य अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित वीतराग-भाव। सत्य बोलना तो निश्चय से सत्यधर्म है ही नहीं, पर मात्र सत्य जानना, सत्य मानना भी वास्तविक सत्यधर्म नहीं है; क्योंकि मात्र जानना और मानना क्रमशः ज्ञान और श्रद्धा गुण की पर्यायें हैं; जबकि सत्यधर्म चारित्र गुण की पर्याय है, चारित्र की दशा है। उत्तमक्षमादि दशधर्म चारित्ररूप हैं – यह बात दशधर्मों की सामान्य चर्चा में अच्छी तरह स्पष्ट की जा चुकी है।

अतः सत्यवाणी की बात तो दूर, मात्र सच्ची श्रद्धा और सच्ची समझ भी सत्यधर्म नहीं; किन्तु सच्ची श्रद्धा और सच्ची समझपूर्वक उत्पन्न हुई वीतराग परिणति ही निश्चय से उत्तमसत्यधर्म है।

नियम नाम चारित्र का है। नियम की व्याख्या करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार में लिखते हैं :–

सुहअसुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा ।।१२०।।

शुभाशुभ वचन-रचना का और रागादि भावों का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है, उसे नियम से (निश्चितरूप से) नियम होता है।

यहाँ भी चारित्ररूप धर्म को वाणी (शुभाशुभ वचन-रचना) और रागादि भावों के अभावरूप कहा है। सत्यधर्म भी चारित्र का एक भेद है। अतः वह भी वाणी और रागादि भावों के अभावरूप होना चाहिए।

सत् अर्थात् जिसकी सत्ता है। जिस पदार्थ की जिस रूप में सत्ता है उसे वैसा ही जानना सत्यज्ञान है, वैसा ही मानना सत्यश्रद्धान है, वैसा ही बोलना सत्यवचन है; और आत्मस्वरूप के सत्यज्ञान-श्रद्धानपूर्वक वीतराग भाव की उत्पत्ति होना सत्यधर्म है।

असत् की सत्ता तो सापेक्ष है। जीव का अजीव में अभाव, अजीव का जीव में अभाव – अर्थात् जीव की अपेक्षा अजीव असत् और अजीव की अपेक्षा जीव असत् है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय की अपेक्षा सत् और परचतुष्टय की अपेक्षा असत् है।

वस्तुतः लोक में जो कुछ भी है वह सब सत् है, असत् कुछ भी नहीं है। किन्तु लोगों का कहना है कि हमें तो जगत में असत्य का ही साम्राज्य दिखाई देता है, सत्य कहीं नजर ही नहीं आता। पर भाई!

यह तेरी दृष्टि की खराबी है, वस्तुस्वरूप की नहीं। सत्य कहते ही उसे हैं जिसकी लोक में सत्ता हो।

जरा विचार करें कि सत्य क्या है और असत्य क्या है ?

'यह घट है' – इसमें तीन प्रकार की सत्ता है। 'घट' नामक पदार्थ की सत्ता है। 'घट' को जानने वाले ज्ञान की सत्ता है और 'घट' शब्द की भी सत्ता है। इसीप्रकार 'पट' नामक पदार्थ, उसको जानने वाले ज्ञान एवं 'पट' शब्द की भी सत्ता जगत में है। जिनकी सत्ता है वे सभी सत्य हैं। इन तीनों का सुमेल हो तो ज्ञान भी सत्य, वाणी भी सत्य, और वस्तु तो सत्य है ही। किन्तु जब वस्तु, ज्ञान और वाणी का सुमेल न हो – मुंह से बोले तो 'पट' और इशारा करे 'घट' की ओर – तो वाणी असत्य हो जायेगी। इसीप्रकार सामने तो हो 'घट' और हम उसे जानें 'पट' – तो ज्ञान असत्य (मिथ्या) हो जाएगा; वस्तु तो असत्य होने से रही। वह तो कभी असत्य हो ही नहीं सकती। वह तो सदा ही स्व-रूप से है, और पर-रूप से नहीं है।

अतः सिद्ध हुआ कि असत्य वस्तु में नहीं; उसे जानने वाले ज्ञान में, मानने वाली श्रद्धा में, या कहने वाली वाणी में होता है। अतः मैं तो कहता हूँ कि अज्ञानियों के ज्ञान, श्रद्धान और वाणी के अतिरिक्त लोक में असत्य की सत्ता ही नहीं है; सर्वत्र सत्य का ही साम्राज्य है।

वस्तुतः जगत पीला नहीं है, किन्तु हमें पीलिया हो गया है; अतः जगत पीला दिखाई देता है। इसीप्रकार जगत में तो असत्य की सत्ता ही नहीं है; पर असत्य हमारी दृष्टि में ऐसा समा गया है कि वह जगत में दिखाई देता है।

सुधार भी जगत का नहीं; अपनी दृष्टि का, अपने ज्ञान का करना है। सत्य का उत्पादन नहीं करना है, सत्य तो है ही; जो जैसा है वही सत्य है। उसे सही जानना है, मानना है। सही जानना-मानना ही सत्य प्राप्त करना है। और आत्म-सत्य को प्राप्त कर राग-द्वेष का अभाव कर वीतरागतारूप परिणति होना सत्यधर्म है।

यदि मैं पट को पट कहूँ तो सत्य है, किन्तु पट को घट कहूँ तो झूठ है। मेरे कहने से पट, घट तो हो नहीं जाएगा; वह तो पट ही रहेगा। वस्तु में झूठ ने कहाँ प्रवेश किया ? झूठ का प्रवेश तो वाणी में हुआ। इसीप्रकार यदि पट को घट जाने तो ज्ञान झूठा हुआ, वस्तु तो नहीं। मैंने पट को घट जाना, माना या कहा – इसमें पट

का क्या अपराध है ? गलती तो मेरे ज्ञान या वाणी में हुई है । गलती सदा ज्ञान या वाणी में ही होती है, वस्तु में नहीं ।

गलती जहाँ हो वहाँ मेटनी चाहिए । जहाँ हो ही नहीं, वहाँ मिटाने के व्यर्थ प्रयत्न से क्या लाभ ? दाग चेहरे पर है और दिखाई दर्पण में देता है । कोई दर्पण को साफ करे तो दाग नहीं मिटेगा, परन्तु दर्पण के साफ हो जाने से और अधिक स्पष्ट हो जाएगा । दाग मिटाने के लिए चेहरे को धोना चाहिए ।

फोटोग्राफर के पास जाकर लोग कहते हैं मेरा बढ़िया फोटो खींच दीजिए । पर भाई साहब ! फोटो तो आपकी जैसी सूरत होगी वैसा आएगा, बढ़िया कहाँ से आ जाएगा ? आपको अपना फोटो खिचाना है – कि बढ़िया ? आपका खिचेगा तो बढ़िया न होगा, और फोटो बढ़िया होगा तो फिर वह आपका नहीं होगा । क्योंकि यदि आपकी सूरत ही बढ़िया न हो तो फोटो बढ़िया कैसे आएगा ?

वस्तुतः तो जैसा है वैसे का नाम बढ़िया है, पर दुनियाँ कहाँ मानती है ? किसी के एक आँख है और फोटो में दोनों आ जाएं तो फोटो बढ़िया हो जाएगा ? बढ़िया भले कहा जाय पर वह वास्तविक न होगा । हम तो वास्तविक को ही बढ़िया कहते हैं ।

वस्तु जैसी है वैसी जानने का नाम सत्य है; अच्छी-बुरी जानने का नाम सत्य नहीं । वस्तु में अच्छे-बुरे का भेद करना राग-द्वेष का कार्य है । ज्ञान का कार्य तो वस्तु जैसी है वैसी जानना है ।

हम किसी वस्तु को कहीं सुरक्षित रखकर भूल जाते हैं और कहते हैं कि अमुक वस्तु खो गई है । पर वस्तु खोई है या उसका ज्ञान खोया है । वस्तु तो जहाँ रखी थी वहाँ अभी भी रखी है । वस्तु को नहीं, उसके ज्ञान को खोजना है ।

असत्य या तो वाणी में होता है या ज्ञान में; वस्तु में नहीं । वस्तु में असत्य की सत्ता ही नहीं है । वस्तु को अपने ज्ञान और वाणी के अनुरूप नहीं बनाया जा सकता और बनाने की आवश्यकता भी नहीं है । आवश्यकता अपने ज्ञान और वाणी को वस्तुस्वरूप के अनुरूप बनाने की है । जब ज्ञान और वाणी वस्तु के अनुरूप होंगे तब वे सत्य होंगे । जब आत्मा सत्स्वभावी-आत्मा के आश्रय से वीतराग परिणति प्राप्त करेगा तब सत्यधर्म का धनी होगा । जितने अंश में प्राप्त करेगा उतने अंश में सत्यधर्म का धनी होगा ।

वाणी की सत्यता के लिए वाणी को वस्तुस्वरूप के अनुकूल ढालना होगा। सत्य बोलने के लिए सत्य जानना जरूरी है। सत्य को जाने बिना सत्य कैसे बोला जा सकता है ?

बहुत से लोग कहते हैं इसमें क्या है ? जैसा देखा, जाना, सुना – वैसा ही कह दिया सो सत्य है। इसी आधार पर वे कहते हैं कि सत्य बोलना सरल है और झूठ बोलना कठिन। क्योंकि उनके अनुसार सत्य बोलने में क्या है – जैसा देखा, जाना, सुना वैसा ही कह दिया; पर झूठ बोलने के लिए योजना बनानी पड़ती है, घर में सब लोगों को ट्रेन्ड करना पड़ता है कि कहीं झूठ खुल न जाए। एक झूठ के पीछे हजार झूठ बोलने पड़ते हैं, फिर भी उसके खुलजाने की शंका बनी ही रहती है।

जैसे – किसी ने दरवाजा खटखटाया या फोन की घंटी बजी। दरवाजा खोलते ही या फोन का रिसीवर उठाते ही सामने वाले ने पूछा – अमुक व्यक्ति है ? यदि सत्य कहना है तो तत्काल कह दिया 'है' अथवा 'नहीं'। पर यदि झूठ कहना है तो 'देखता हूँ, आप कौन हैं ? क्या काम है ?' आदि लम्बी प्रश्न-सूची उसके सामने खड़ी करनी होगी और अंदर पूछकर उत्तर दिया जायगा। यदि बालक या चपरासी झूठ बोलने में कुशल न हुआ तो यह भी कह सकता है कि पिताजी कहते हैं या साहब कहते हैं कि कह दो घर पर नहीं हैं। यदि उसने ठीक-ठीक कह भी दिया कि 'नहीं हैं', फिर भी किसी दूसरे के द्वारा कभी पर्दाफाश भी हो सकता है। अतः उनके अनुसार सत्य बोलना आसान है और झूठ बोलना कठिन।

पर मेरा कहना है कि यह सारी कवायद झूठ बोलने के लिए नहीं; झूठ छिपाने के लिए करनी पड़ती है, झूठ को सत्य का लबादा पहनाने के लिए करनी पड़ती है। झूठ बोलने में क्या है ? बिना सोचे-समझे चाहे जो बोलते जाइए, वह गारंटी से झूठ तो होगा ही। कोई पूछे – दिल्ली में कितने कौए हैं ? सत्य बोलने वाले को सोचना पड़ेगा। हो सकता है कि वह उत्तर दे ही न पाए या यह कहना पड़ेगा कि मुझे नहीं मालूम। पर झूठ बोलने वाले को क्या ? कुछ भी संख्या बता दे। बिना गिने जो भी संख्या बताएगा वह झूठ तो गारंटी से होगी ही।

मैं ही आप लोगों से पूछता हूँ कि आजकल सूर्य कितने बजे उगता है ? बताइये, आप चुप क्यों हो गए ? इसलिए कि आप झूठ बोलना नहीं चाहते और सत्य का पता नहीं है। झूठ ही बोलना

है तो कुछ भी कह दीजिएगा। किन्तु सत्य बोलने के लिए बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है, अतः बिना सोचे-समझे सत्य नहीं बोला जा सकता। सत्य बोलने के पहले सत्य जानना बहुत जरूरी है।

यह बात प्रयोजनभूत तत्त्वों के संबंध में और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। लौकिक वस्तुओं के बारे में बोला गया झूठ भी यद्यपि पापबंध का कारण है; तथापि प्रयोजनभूत तत्त्वों के विषय में बोला गया झूठ तो महान पाप है, अनंत संसार का कारण है, अपना और पर का बड़ा भारी अहित करने वाला है।

अतः यदि वस्तुतत्त्व की सही जानकारी नहीं है तो अनापशनाप बोलने से नहीं बोलना – चुप रहना हितकर है।

मुक्ति के मार्ग में सत्य बोलना अनिवार्य नहीं; किन्तु सत्य जानना, सत्य मानना, और आत्म-सत्य के आश्रय से उत्पन्न वीतरागपरिणति-रूप सत्यधर्म प्राप्त करना जरूरी है। क्योंकि बिना बोले मोक्ष हो सकता है; पर बिना जाने, माने और तद्रूप परिणमित हुए बिना नहीं। सत्य जानने पर जीवन भर भी न बोले तो कोई अंतर न पड़ेगा, पर जाने बिना नहीं चलेगा।

अग्नि को कोई गर्म न कहे तब भी वह गर्म रहेगी। उसे गर्म रहने के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसे कोई गर्म कहे ही। इसी प्रकार उसे कोई गर्म न जाने तब भी वह गर्म रहेगी। उसीप्रकार वस्तु का सत्यस्वरूप भी वाणी की अपेक्षा नहीं रखता और न वह ज्ञान की ही अपेक्षा रखता है। वह तो सदा सत्य ही है। उसे उसी रूप में जानने वाला ज्ञान सत्य है, मानने वाली श्रद्धा सत्य है, कहने वाली वाणी सत्य है, और तदनुकूल आचरण करने वाला आचरण भी सत्य है। हम मूलसत्य को ही भूल गए हैं; तो उसके आश्रय से होने वाले ज्ञान, श्रद्धान, चारित्र एवं वाणी के सत्य हमारे जीवन में कैसे प्रकट हों ?

अन्तर में विद्यमान ज्ञानानन्दस्वभावी त्रैकालिक ध्रुव आत्मतत्त्व ही परम सत्य है। उसके आश्रय से उत्पन्न हुआ ज्ञान, श्रद्धान, एवं वीतराग परिणति ही उत्तमसत्यधर्म है।

आज का युग समझौतावादी युग है। अति उत्साह में कुछ लोग वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में भी समझौते की बात करते हैं। किन्तु वस्तु के सत्यस्वरूप को समझने की आवश्यकता है, समझौते की नहीं। वस्तु के स्वरूप में समझौते की गंजाइश भी कहाँ है और उसके

सम्बन्ध में समझौता करने वाले हम होते भी कौन हैं ? समझौते में दोनों पक्षों को झुकना पड़ता है। समझौते का आधार सत्य नहीं, शक्ति होती है। समझौते में सत्यवादी की वात नहीं, शक्तिशाली की वात मानी जाती है।

अग्नि कैसी है – ठंडी या गर्म ? यह वात जानने की तो हो सकती है, पर इसमें समझौते की क्या वात है ? यदि कोई कहे कि अग्नि ठंडी है और कोई कहे गर्म है, इसमें क्या समझौता हो सकता है ? पचास प्रतिशत ठंडी और पचास प्रतिशत गर्म मानी जाए क्या ? यदि न मानें तो समझौता नहीं होगा, मानलें तो सत्य नहीं रहता।

वस्तु के सत्यस्वरूप को आपका समझौता स्वीकार भी कहाँ है ? यदि आपने सर्वसम्मति से भी अग्नि को ठंडा मान लिया तो क्या अग्नि ठंडी हो जाएगी ? नहीं, कदापि नहीं। अग्नि तो जैसी है वैसी ही रहेगी।

अग्नि कैसी है ? इसके वारे में पंचायत वैठाने के वजाय छूकर देखना सही रास्ता है। उसीप्रकार सत्य वस्तुतत्त्व के वारे में पंचायतें वैठाने के वजाय आत्मानुभव करना सही मार्ग है।

वस्तु के स्वरूप की सत्य समझ का नाम धर्म है। सत्य को समझौते की नहीं, समझने की आवश्यकता है। सत्य और शान्ति समझ से मिलती है, समझौते से नहीं।

इस चमत्कारप्रिय जगत में सत्य की आवश्यकता भी किसे है ? उसे प्राप्त करने की एकमात्र तमन्ना किसे है, तड़प किसे है ? उसकी कीमत भी कौन करता है ? यहाँ तो चमत्कार को नमस्कार है।

एक साधारण-सा जादूगर चौराहे पर खड़ा होकर लोगों को झूठा आम वताकर सैकड़ों रुपये वटोर लेता है, जवकि एक कृषक को सच्चे आम के पचास पैसे प्राप्त करना कठिन होता है। वास्तविक आम खरीदते समय लोग हजार मीन-मेख निकालते हैं।

जादूगर तो मात्र आम दिखाता है, देता नहीं; पर कृषक देता भी है। जादूगर के पास आम है ही नहीं, वह दे भी कहाँ से ? वह तो धोखा देता है, हाथ की सफाई वताता है, हमारी नजर वंद करता है। पर इस जगत में धोखा देने वाला आदर पाता है, धन पाता है। हमें उसकी महिमा आती है, जो हमारी नजर वन्द करता है; उसकी नहीं जो खोलता है। लोग कहते हैं क्या ग़ज़व किया, आम था ही

नहीं और दिखा दिया; है न कमाल ! पर मैं कहता हूँ – कमाल है या धोखा । ज्ञानी तो उसे कहते हैं – जो है उसे दिखाए; जो नहीं है उसे बताने वाला तो धोखेबाज ही हो सकता है । पर लोग सत्य के प्रति उत्साहित नहीं होते, महिमावंत नहीं होते; धोखे से प्रभावित होते हैं। कहते हैं सत्य में क्या है ? वह तो है ही, उसे दिखाने में क्या रखा है ? कमाल तो – जो नहीं है उसे दिखा देने में है ।

असत्य के प्रति बहुमान वालों को सत्य प्राप्त होना कठिन ही नहीं, असम्भव है । सत्य– सत्य की रुचि, महिमा, लगन वालों को ही प्राप्त होता है ।

आत्म-सत्य की तीव्र रुचि जागृत हो, उसकी महिमा आवे, उसे प्राप्त करने की तीव्रतम लगन लगे, उसे प्राप्त करने का अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ जगे और सत्य की प्राप्ति न हो; यह सम्भव नहीं है । सत्य के खोजी को सत्य प्राप्त होता ही है ।

आत्मवस्तु के त्रैकालिक सत्यस्वरूप के आश्रय से उत्पन्न होने वाला वीतरागपरिणतिरूप उत्तमसत्यधर्म जन-जन में प्रकट हो, ऐसी पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ ।

—∞—

उत्तमसंयम

'संयमनं संयमः। अथवा व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणां धारणानुपालननिग्रहत्यागजयाः संयमः'।[1]

संयमन को संयम कहते हैं; संयमन अर्थात् उपयोग को पर-पदार्थ से समेट कर आत्मसन्मुख करना, अपने में सीमित करना, अपने में लगाना। उपयोग की स्वसन्मुखता, स्वलीनता ही निश्चय-संयम है। अथवा पाँच व्रतों का धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, क्रोधादि कषायों का निग्रह करना, मन-वचन-कायरूप तीन दण्डों का त्याग करना और पाँच इन्द्रियों के विषयों को जीतना संयम है।

संयम के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। जिसप्रकार वीज के विना वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम संभव नहीं है; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन के विना संयम की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं फलागम संभव नहीं है।

इस संदर्भ में महान दिग्गज आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं :-

'सो संजमो जो सम्माविणाभावी ण अण्णो'।[2]

संयम वही है, जो सम्यक्त्व का अविनाभावी हो, अन्य नहीं।

इसी वात को 'धवला, प्रथम पुस्तक' में इसप्रकार प्रश्नोत्तर के रूप में दिया गया है :-

प्रश्न – कितने ही मिथ्यादृष्टि संयत (संयमी) देखे जाते हैं ?

उत्तर – नहीं; क्योंकि सम्यग्दर्शन के विना संयम की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।[3]

संयम मुक्ति का साक्षात् कारण है। दुःखों से छूटने का एकमात्र उपाय सम्यग्दर्शनसहित संयम अर्थात् उत्तमसंयम ही है। विना

---

[1] धवला पुस्तक १, खण्ड १, भाग १, सूत्र ४, पृष्ठ १४४

[2] धवला पुस्तक १२, खण्ड ४, भाग २, सूत्र १७७, पृष्ठ ८१

[3] धवला पुस्तक १, खण्ड १, भाग १, सूत्र १३, पृष्ठ ३७८

संयम धारण किये तीर्थंकरों को भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

कहा भी है :—

जिस बिना नहीं जिनराज सीझे, तू रुल्यो जग कीच में।
इक घरी मत विसरो करो नित, आयु जम मुख वीच में।।[१]

निरन्तर मौत की आशंका से घिरे मानव को कवि प्रेरणा दे रहे हैं कि संयम को एक घड़ी के लिये भी मत भूलो (संयम विणु घड़ि एक्कु न जाइ), क्योंकि यह सारा जगत संयम के विना ही इस संसार की कीचड़ में फँसा हुआ है। संसार-सागर से पार उतारने वाला एकमात्र संयम ही है।

संयम एक बहुमूल्य रत्न है। इसे लूटने के लिए पंचेन्द्रिय के विषय-कषायरूपी चोर निरन्तर चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं।

अत: कवि सचेत करते हुए कहते हैं :—

'संयम रतन संभाल, विषय चोर चहुँ फिरत हैं।'[२]

आगे कहते हैं :—

उत्तम संजम गहु मन मेरे, भव-भव के भाज अघ तेरे।
सुरग नरक पशुगति में नाहीं, आलस हरन करन सुख ठाहीं।।[३]

यहाँ अपने मन को समझाते हुए कहा गया है कि हे मन! उत्तमसंयम को धारण कर; इससे तेरे भव-भव के बंधे पाप भाग जावेंगे, कट जावेंगे। यह संयम स्वर्गों और नरकों में तो है ही नहीं, अपितु पूर्ण संयम तो तिर्यञ्च गति में भी नहीं है। एकमात्र मनुष्य भव ही ऐसा है जिसमें संयम धारण किया जा सकता है।

मनुष्य जन्म की सार्थकता संयम धारण करने में ही है। कहते हैं देव भी इस संयम के लिए तरसते हैं। जिस संयम के लिए देवता भी तरसते हों और जिस बिना तीर्थंकर भी न तिरें, वह संयम कैसा होगा? इस पर हमें गम्भीरता से विचार करना चाहिए। उसे मात्र दो-चार दिन भूखे रहने एवं सिर मुंडन करा लेने मात्र तक सीमित नहीं किया जा सकता।

---

[१] दशलक्षणधर्म पूजन, संयम सम्बन्धी छन्द

[२] वही

[३] वही

संयम दो प्रकार का होता है :–
(१) प्राणीसंयम और (२) इन्द्रियसंयम ।

छहकाय के जीवों के घात एवं घात के भावों के त्याग को प्राणीसंयम और पंचेन्द्रियों तथा मन के विषयों के त्याग को इन्द्रिय-संयम कहते हैं ।

षट्काय के जीवों की रक्षारूप अहिंसा एवं पंचेन्द्रियों के विषयों के त्यागरूप व्रतों की बात जब भी चलती है – हमारा ध्यान परजीवों के द्रव्यप्राणरूप घात एवं बाह्य भोगप्रवृत्ति के त्याग की ओर ही जाता है; अभिप्राय में जो वासना बनी रहती है, उसकी ओर ध्यान ही नहीं जाता ।

इस संदर्भ में महापंडित टोडरमलजी लिखते हैं :–

"बाह्य त्रस-स्थावर की हिंसा तथा इन्द्रिय-मन के विषयों में प्रवृत्ति उसको अविरति जानता है; हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है और विषयसेवन में अभिलाषा मूल है उसका अवलोकन नहीं करता । तथा बाह्य क्रोधादि करना उसको कषाय जानता है, अभिप्राय में राग-द्वेष बस रहे हैं उनको नहीं पहिचानता ।"[1]

यदि बाह्य हिंसा का त्याग एवं इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति नहीं होने का ही नाम संयम है, तो फिर देवगति में भी संयम होना चाहिए; क्योंकि सोलह स्वर्गों के ऊपर तो उक्त बातों की प्रवृत्ति संयमी पुरुषों से भी कम पाई जाती है ।

सर्वार्थसिद्धि के सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्रों के पंचेन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति बहुत कम या न के बराबर-सी पाई जाती है । स्पर्शनेन्द्रिय के विषय सेवन (मैथुन) की प्रवृत्ति तो दूर, तेतीस सागर तक उनके मन में विषय सेवन का विकल्प भी नहीं उठता ।

सर्वमान्य जैनाचार्य उमास्वामी ने स्पष्ट लिखा है :–

'परेऽप्रवीचाराः'[2]

सोलह स्वर्गों के ऊपर प्रवीचार का भाव भी नहीं होता ।

रसना इन्द्रिय के विषय में भी उन्हें तेतीस हजार वर्ष तक कुछ भी खाने-पीने का भाव नहीं आता । तेतीस हजार वर्ष के बाद भी

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२७

[2] तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ४, सूत्र ९

जब विकल्प उठता है तो गले से ही अमृत भर जाता है, जवान जूठी तब भी नहीं होती। इसीप्रकार घ्राण, चक्षु, कर्ण इन्द्रियों के विषयों का भी अभाव-सा ही पाया जाता है। उन्हें जिनेन्द्र पंचकल्याणक को देखने, दिव्यध्वनि सुनने तक का भाव नहीं आता।

षट्काय के जीवों की हिंसा का भी प्रसंग वहाँ नहीं है। कषाय भी सदा मंद, मंदतर, और मंदतम रहती है—क्योंकि उनके शुक्ल लेश्या होती है। पाँचों पापों की प्रवृत्ति भी नहीं देखी जाती। यह सब बातें जिनवाणी में यत्र-तत्र-सर्वत्र देखी जा सकती हैं। कुछ कम-बढ़ इसीप्रकार की स्थिति नवग्रैवेयक के मिथ्यादृष्टि अहमिन्द्रों के भी पाई जाती है।

जहाँ एक ओर अहमिन्द्रों के बाह्यरूप से षट्काय के जीवों की हिंसा, पंचेन्द्रिय के विषयों, कषायों और पाँचों पापों की प्रवृत्ति नहीं होने पर या कम से कम होने पर भी शास्त्रकार लिखते हैं कि उनके संयम नहीं है, वे असंयमी हैं; वहीं दूसरी ओर अणुव्रती मनुष्य श्रावक को देशसंयमी ही सही, पर संयमी कहा गया है—जबकि उसके अहमिन्द्रों की अपेक्षा हिंसा, पंचेन्द्रिय के विषयों, कषायों एवं पापों में प्रवृत्ति अधिक देखी जाती है।

यद्यपि अणुव्रती के त्रसहिंसा का त्याग होता है; तथापि उद्योगी, आरंभी एवं विरोधी त्रसहिंसा से भी वह नहीं बच पाता है। प्रयोजनभूत स्थावरहिंसा तो होती ही है।

पंचेन्द्रियों के विषयों की दृष्टि से विचार करें तो स्पर्शन इन्द्रिय के सन्दर्भ में यद्यपि वह परस्त्रीसेवन का सर्वथा त्यागी होता है तथापि स्वस्त्रीसेवन तो उसके पाया ही जाता है; जबकि अहमिन्द्रों के स्त्री-सेवन का मन में भी विकल्प नहीं उठता। इसीप्रकार रसनेन्द्रिय के विषय में विचार करें तो न सही अभक्ष्य भक्षण एवं खाने-पीने की लोलुपता; पर खाता-पीता तो है ही। भले ही शुद्ध खान-पान ही सही; पर स्वाद तो लेता ही होगा। अहमिन्द्रों के तो हजारों वर्ष तक भोजन ही नहीं, स्वाद की तो बात ही दूर है। घ्राण, चक्षु और कर्ण के विषय में भी यही स्थिति है। फिर भी अणुव्रती मनुष्य को संयमी कहा है।

यदि विषयों की बाह्य प्रवृत्ति के त्याग का नाम ही संयम होता तो फिर वह देवों में अवश्य होना चाहिए था और मनुष्य एवं तिर्यंचों

में उसकी सम्भावना कम होनी चाहिये थी। किन्तु शास्त्रों के अनुसार संयम देवों में नहीं, मनुष्यों में है। इससे सिद्ध होता है कि संयम मात्र वाह्य प्रवृत्ति का नाम नहीं – वल्कि उस पवित्र आन्तरिक वृत्ति का नाम है जो मानवों में पाई जा सकती है; देवों में नहीं, चाहे उनकी वाह्य वृत्ति कितनी ही ठीक क्यों न हो।

वस्तुत: संयम सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुई उस परम पवित्र वीतराग परिणति का नाम है – जो कि छठे-सातवें गुणस्थान में झूलने वाले या उससे आगे वढ़े हुए मुनिराजों के अनन्तानुवंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव में प्राप्त होती है; तथा जो पंचमगुणस्थानवर्ती मनुष्य और तिर्यंचों में भी अनन्तानुवंधी व अप्रत्याख्यान कषाय के अभाव में पाई जाती है; तथा अनन्तानुवंधी आदि कषायों के सद्भाव में ग्रैवेयक तक के मिथ्यादृष्टि अहमिन्द्रों एवं अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के सद्भाव में सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्रों में नहीं पाई जाती है।

सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुई अनन्तानुवंधी आदि तीन या दो कषायों के अभाव में प्रकट वीतराग परिणतिरूप उत्तमसंयम जव अन्तर में प्रकट होता है तव उस जीव की वाह्य परिणति भी पंचेन्द्रियों के विषयों एवं हिंसादि पापों के सर्वदेश या एकदेश त्यागरूप नियम से होती है; उसे व्यवहार से उत्तमसंयमधर्म कहते हैं। अंतरंग में उक्त वीतराग परिणति के अभाव में – चाहे जैसा वाह्य त्याग दिखाई दे; वह व्यवहार से भी उत्तमसंयमधर्म नहीं है।

अंतरंग से वहिरंग की व्याप्ति तो नियम से होती है, पर वहिरंग के साथ अंतरंग की व्याप्ति का कोई नियम नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिसके अंतरंग अर्थात् निश्चय उत्तमसंयमधर्म प्रकट होता है, उसका वाह्य व्यवहार भी नियमरूप से तदनुकूल होगा। किन्तु यदि वाह्य व्यवहार ठीक भी दिखाई दे तो भी कोई गारण्टी नहीं कि उसका अंतरंग भी पवित्र होगा ही।

उत्तमसंयमधर्म में छहकाय के जीवों की रक्षा एवं पंचेन्द्रिय और मन को वश में करने की वात कही गई है :–

'काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्रिय मन वश करो।'

किन्तु सामान्यजन इसका भी सही भाव नहीं समझ पाते।

छहकाय के जीवों की रक्षा में उनका ध्यान परजीवों की रक्षा की ओर ही जाता है। 'मैं स्वयं भी एक जीव हूँ' इसका उन्हें ध्यान ही नहीं रहता। परजीवों की रक्षा का भाव करके सब जीवों ने पुण्यबंध तो अनेक बार किया; किन्तु परलक्ष्य से निरन्तर अपने शुद्धोपयोग-रूप भावप्राणों का जो घात हो रहा है, उसकी ओर इनका ध्यान ही नहीं जाता। मिथ्यात्व और कषायभावों से यह जीव निरन्तर अपघात कर रहा है। इस महाहिंसा की इसे खबर ही नहीं है।

हिंसा की परिभाषा में ही 'प्रमत्तयोगात्'[१] शब्द पड़ा है—जिसका तात्पर्य ही यह है कि प्रमाद अर्थात् कषाय के योग से अपने और पराये प्राणों का व्यपरोपण हिंसा है। इसे ही आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने 'हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है' कहा है। जब तक प्रमाद (कषाय) परिणति है तब तक हिंसा अवश्य है, चाहे परप्राणों का घात हो या न भी हो। इस सन्दर्भ में विशेष जानने के लिए लेखक का 'अहिंसा'[२] सम्बन्धी लेख देखना चाहिए। प्रकृत में विस्तृत विवेचन सम्भव नहीं है।

जब हम इन्द्रियसंयम के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो देखते हैं कि सारा जगत इन्द्रियों का गुलाम हो रहा है। यद्यपि सभी आत्माएँ ज्ञानानंद-स्वभावी हैं तथापि वर्त्तमान में हमारा ज्ञान भी इन्द्रियों की कैद में है और आनन्द भी इन्द्रियाधीन हो रहा है। सुबह से शाम तक हमारे सारे कार्य इन्द्रियों के माध्यम से ही सम्पन्न होते हैं। यदि हम आनन्द लेंगे तो इन्द्रियों के माध्यम से और कुछ जानेंगे तो भी इन्द्रियों के माध्यम से ही। यह है हमारी इन्द्रियाधीनता, पराधीनता। हमारा ज्ञान भी इन्द्रियाधीन और आनन्द भी इन्द्रियाधीन।

ज्ञान और आनन्द को इन्द्रियों की पराधीनता से मुक्त कराना बहुत जरूरी है। तदर्थ हमें इन्द्रियों को जीतना होगा, जितेन्द्रिय बनना होगा।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि इन्द्रियाँ क्या हमारी शत्रु हैं जो उन्हें जीतना है? जीता तो शत्रु को जाता है।

हाँ! हाँ!! वे हमारी शत्रु हैं, क्योंकि उन्होंने हमारी ज्ञानानंद-निधि पर अनाधिकार अधिकार कर रखा है।

---

[१] प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७, सूत्र १३

[२] तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ १८५

आप यह भी कह सकते हैं – इन्द्रियाँ तो हमारे आनन्द और ज्ञान में सहायक हैं। वे तो हमें पंचेन्द्रियों के भोगों के आनन्द लेने में सहायता करती हैं, पदार्थों को जानने में भी सहायता करती हैं। सहायकों को शत्रु क्यों कहते हो ? सहायक तो मित्र होते हैं, शत्रु नहीं।

पर आप यह क्यों भूल जाते हैं कि ज्ञान और आनन्द तो आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव में पर की अपेक्षा नहीं होती। अतीन्द्रिय-आनन्द और अतीन्द्रियज्ञान को किसी 'पर' की सहायता की आवश्यकता नहीं है।

यद्यपि इन्द्रियसुख और इन्द्रियज्ञान में इन्द्रियाँ निमित्त होती हैं, तथापि इन्द्रियसुख सुख है ही नहीं। वह सुखाभास है, सुख-सा प्रतीत होता है; पर वस्तुतः सुख नहीं, दुःख ही है, पापबंध का कारण होने से आगामी दुःख का भी कारण है। इसीप्रकार इन्द्रियाँ रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्द की ग्राहक होने से मात्र जड़ को जानने में ही निमित्त हैं, आत्मा को जानने में वे साक्षात् निमित्त भी नहीं हैं।

विषयों में उलझाने में निमित्त होने से इन्द्रियाँ संयम में बाधक ही हैं, साधक नहीं।

पंचेन्द्रियों के जीतने के प्रसंग में भी सामान्यजनों का ध्यान इन्द्रियों के भोगपक्ष की ओर ही जाता है, ज्ञानपक्ष की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता। इन्द्रियसुख को त्यागने की बात तो सभी करते हैं; पर इन्द्रियज्ञान भी हेय है, आत्महित के लिए अर्थात् अतीन्द्रियसुख और अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति के लिए इन्द्रियज्ञान की भी उपेक्षा आवश्यक है – इसे बहुत कम लोग जानते हैं।

जब इन्द्रियसुख भोगते-भोगते अतीन्द्रियसुख प्राप्त नहीं किया जा सकता तब इन्द्रियज्ञान के माध्यम से अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति कैसे होगी ? आत्मा के अनुभव के लिए जिसप्रकार इन्द्रियसुख त्याज्य है; उसीप्रकार अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति के लिए इन्द्रियज्ञान से भी विराम लेना होगा।

प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं :–

> अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
> णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥५३॥

जिसप्रकार ज्ञान मूर्त-अमूर्त और इन्द्रिय-अतीन्द्रिय होता है; उसीप्रकार सुख भी अमूर्त-मूर्त और इन्द्रिय-अतीन्द्रिय होता है। इनमें

इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख हेय हैं और अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख उपादेय हैं।

प्रवचनसार की ही पचपनवीं गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं :–

'अथेन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेयं प्रणिन्दति ।'

अब, इन्द्रियसुख का साधनभूत इन्द्रियज्ञान हेय है – इसप्रकार उसकी निन्दा करते हैं।

इन्द्रियज्ञान से विराम लेने की बात तो बहुत दूर; आज हम इन्द्रियों के विषयों (भोगों) को भी छोड़ने में नहीं, जोड़ने में लग रहे हैं। पेट के नाम पर पेटी भर रहे हैं। हमसे तो वे चौपाये पशु अच्छे जिनकी तृष्णा पेट तक ही सीमित है। पेट भर जाने पर वे घंटे-दो घंटे को ही सही, खाने-पीने से विरत हो जाते हैं; पर प्राणी-जगत का यह बुद्धिमान दोपाया सभ्यमानव पलभर को भी विराम नहीं लेता।

यद्यपि अन्य प्राणियों की तुलना में इसका पेट बहुत छोटा है, पर वह कभी भरता ही नहीं। यदि पेट भर भी जावे तो मन नहीं भरता। कहता है कि पेट के लिए सब कुछ करना पड़ता है। पर यह सब बहाना है। पेट भर जाने पर भी तो इसका मुँह बन्द नहीं होता, चलता ही रहता है। जब तक पेट में समाता है तब तक ऐसा खाना खाता है जो पेट में जावे; पर जब पेट भर जाता है तो पान-सुपारी-इलायची आदि ऐसे पदार्थों को खाने लगता है जिनसे रसनेन्द्रिय के विषय की तृप्ति तो हो, पर पेट पर वजन न पड़े। कुछ लोग तो ऐसे मिलेंगे जो चौबीसों घंटे मुँह में कुछ-न-कुछ डाले ही रहेंगे। सोते समय भी डाढ़ के नीचे पान दाबकर सोयेंगे।

भरपेट सुस्वादु भोजन कर लेने के बाद भी न मालूम क्यों इन्हें घासपत्ती खाने की इच्छा होती है? लगता है ऐसे लोग तिर्यञ्च योनि से आये हैं, अतः घास खाने का अभ्यास है जो छूटता नहीं; अथवा तिर्यञ्च गति में जाने की तैयारी है, इस कारण अभ्यास छोड़ना नहीं चाहते। क्योंकि घास खाने और वह भी चौबीसों घंटे खाने का अभ्यास यदि छूट गया तो फिर क्या होगा? अथवा ऐसा भी हो सकता है कि नरकगति से आये हों। वहाँ सागरों पर्यन्त भोजन नहीं मिला था, अब मिला है तो उस पर टूट पड़े हैं। या फिर नरक

जाने की तैयारी है। सोचते हैं कि जितने दिन हैं, खा लें; फिर न मालूम मिलेगा या नहीं।

जो भी हो, पर ऐसे लोग पेट भरने के नाम पर पंचेन्द्रियों के विषयों को ही भोगने में लगे रहते हैं।

मैं पूछता हूँ प्यासे को मात्र पानी की जरूरत है या ठंडे-मीठे-रंगीन पानी की। पेट को तो पानी की ही जरूरत है – चाहे वह गर्म हो या ठंडा, पर स्पर्शन इन्द्रिय की माँग है ठंडे पानी की, रसनेन्द्रिय की माँग है मीठे पानी की, घ्राण कहती है सुगंधित होना चाहिये, फिर आँख की पुकार होती है रंगीन हो तो ठीक रहेगा।

एयरकण्डीशन होटल में बैठकर रेडियो का गाना सुनते-सुनते जब हम ठंडा-मीठा-सुगंधित-रंगीन पानी पीते हैं तो एक गिलास का एक रुपया चुकाना पड़ता है। यह एक रुपया क्या प्यासे पेट की आवश्यकता थी? पेट की प्यास तो मुफ्त के एक गिलास पानी से बुझ सकती थी। एक रुपया पेट की प्यास बुझाने में नहीं, इन्द्रियों की प्यास बुझाने में गया है।

इन्द्रियों के गुलामों को न दिन का विचार है न रात का, न भक्ष का विचार है न अभक्ष का। उन्हें तो जब जैसा मिल जावे खाने-पीने-भोगने को तैयार हैं। बस उनकी तो एक ही माँग है कि इन्द्रियों को अनुकूल लगना चाहिए; चाहे वह पदार्थ हिंसा से उत्पन्न हुआ हो, चाहे मलिन ही क्यों न हो, इसका उन्हें कोई विचार नहीं रहता।

जिनके भक्षण में अनन्त जीवराशि का भी विनाश क्यों न हो – ऐसे पदार्थों के सेवन में भी इन्हें कोई परहेज नहीं होता, बल्कि उनका सेवन नहीं करने वालों की हँसी करने में ही इन्हें रस आता है। वे अपने असंयम की पुष्टि में अनेक प्रकार की कुतर्कें करते रहते हैं।

एक सभा के बीच ऐसे ही एक भाई मुझसे बोले – "हमने सुना है कि आलू आदि जमीकंदों में अनन्त जीव रहते हैं?"

जब मैंने कहा – "रहते तो हैं।" तब कहने लगे – "उनकी आयु कितनी होती है?"

"एक श्वास के अठारहवें भाग" यह उत्तर पाकर बोले – "जब उनकी आयु ही इतनी कम है तो वे तो अपनी आयु की समाप्ति से ही मरते होंगे, हमारे खाने से तो मरते नहीं। फिर इनके खाने में क्या दोष है?"

मैंने कहा – "भाई ! जरा विचार तो करो। भले ही वे अपनी आयु समाप्ति के कारण मरते हों, पर मरते तो तुम्हारे मुँह में हैं; और वहीं जन्म भी ले लेते हैं। जरा से स्वाद के लिए अनंत जीवों का मुर्दाघर और जच्चाखाना अपने मुँह को, पेट को क्यों वनाते हो ?

यदि कोई तुम्हारे घर को जच्चाखाना वनाना चाहे या मुर्दाघर वनाना चाहे, तो क्या सहज स्वीकार कर लोगे ?"

"नहीं।"

"तो फिर मुँह को, पेट को क्यों वनाते हो ?"

तव वे कहने लगे – "हम उन्हें मारते तो नहीं, वे स्वयं मर जाते हैं।"

तव प्रेम से समझाते हुए मैंने कहा – "आपके घर में किसी को मारकर नहीं जलावेंगे, उन्हीं को जलावेंगे जो स्वयं की मौत से मरेंगे तथा अवैध वच्चों को नहीं, पर वैध वच्चों को पैदा करने वाली जच्चाओं को ही रखेंगे, तब तो आपको कोई ऐतराज न होगा ?

यदि होगा तो फिर स्वयंमृत और जन्म लेने वाले जीवों का मरणस्थान और जन्मस्थान अपने मुँह को क्यों वनाना चाहते हो ?

भाई ! राग की तीव्रता और अधिकता विना ऐसे निन्द्य काम सम्भव नहीं हैं। राग की तीव्रता और अधिकता ही महाहिंसा है। अतः हिंसामूलक एवं इन्द्रियों की लोलुपतारूप ऐसे असंयम को छोड़ ही देना चाहिए।"

यह वात सुनकर उन भाई ने तो अभक्ष्य-भक्षण छोड़ ही दिया और भी अनेक लोगों ने हिंसामूलक एवं इन्द्रियगृद्धतारूप अभक्ष्य-भक्षण का त्याग किया।

यद्यपि सारा जगत इन्द्रियों के भोगों में ही उलझा है तथापि वैराग्य का वातावरण पाकर भोगों को छोड़ देना उतना कठिन नहीं है – जितना इन्द्रियों के माध्यम से होने वाली ज्ञान की वर्वादी रोकना है। क्योंकि इन्द्रियभोगों को तो सारा जगत वुरा कहता है, पर इन्द्रियज्ञान को उपादेय माने वैठा है। जिसे उपादेय माना हो, उसे छोड़ने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि इन्द्रियों के माध्यम से तो ज्ञान उत्पन्न होता है और आप वर्वाद होना कहते हैं ?

हाँ ! हम यही कहते हैं और ठीक कहते हैं, क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति तो आत्मा में आत्मा से ही होती है। इन्द्रियों के माध्यम से तो वह वाह्य पदार्थों में लगता है, पर-पदार्थों में लगता है। इन्द्रियों के माध्यम से पुद्गल का ही ज्ञान होता है क्योंकि वे रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द की ग्राहक हैं। आत्मा का हित आत्मा को जानने में है, अतः पर में लगा ज्ञान का क्षयोपशम ज्ञान की वर्वादी ही है, आवादी नहीं।

अनादिकाल से आत्मा ने पर को जाना, पर आज तक सुखी नहीं हुआ। किन्तु एक वार भी यदि आत्मा अपने आत्मा को जान लेता तो सुखी हुए विना नहीं रहता।

यह तो ठीक, पर इससे संयम का क्या सम्वन्ध ? यही कि संयमन का नाम ही तो संयम है, उपयोग को पर-पदार्थो से समेटकर निज में लीन होना ही संयम है। जैसा कि 'धवल' में कहा है और जिसे आरम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है।

यह आत्मा पर की खोज में इतना व्यस्त है और असंयमित हो गया है कि खोजने वाला ही खो गया है। परज्ञेय का लोभी यह आत्मा स्वज्ञेय को भूल ही गया है। वाह्य पदार्थों की जानने की व्यग्रता में अन्तर में झाँकने की फुर्सत ही नहीं है इसे।

यह एक ऐसा सेठ वन गया है जिसकी टेवल पर पांच-पांच फोन लगे हैं। एक से वात समाप्त नहीं होती कि दूसरे फोन की घंटी टनटना उठती है। उससे भी वात पूरी नहीं हो पाती कि तीसरा फोन वोल उठता है। इसीप्रकार फोनों का सिलसिला चलता रहता है। फोन पांच-पांच हैं और उनकी वात सुनने वाला एक है।

इसीप्रकार इन्द्रियाँ पांच हैं और उनके माध्यम से जानने वाला आत्मा एक है। वाहरी तत्त्व पुद्गल की रूप-रस-गंध-स्पर्श-शब्द सम्वन्धी सूचनाएँ इन्द्रियों के माध्यम से निरन्तर आती रहती हैं। कानों के माध्यम से सूचना मिलती है कि यह हल्ला-गुल्ला कहाँ हो रहा है ? उस पर विचार ही नहीं कर पाता कि नाक कहती है — वदव आ रही है। उसके वारे में कुछ सोचे कि आँख के माध्यम से कुछ काला-पीला दिखने लगता है। उसका कुछ विचार करे कि ठंडी हवा या गर्म लू का झोंका अपनी सत्ता का ज्ञान कराने लगता है। उससे सावधान भी नहीं हो पाता कि मुँह में रखे पान में यह कड़वापन कहाँ से आ गया — रसना यह सूचना देने लगती है।

क्या करे यह बेचारा आत्मा ! बाहर की सूचनाएँ और जानकारियाँ ही इतनी आती रहती हैं कि अन्तर में जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आत्मतत्त्व विराजमान है, उसकी ओर झांकने की भी इसे फुर्सत नहीं है।

इन्द्रियों के माध्यम से परज्ञेयों में उलझा यह आत्मा स्वज्ञेय निजात्मा को आज तक जान ही नहीं पाया – उसे माने कैसे, उसमें जमे कैसे, रमे कैसे ? यही एक विकट समस्या है।

आत्मा में जमना-रमना ही संयम है। अतः संयम को प्राप्त करने के लिये मात्र इन्द्रियभोगों को नहीं, इन्द्रियज्ञान को भी तिलाञ्जलि देनी होगी, चाहे वह अन्तमुहूर्त्त को ही सही। इन्द्रियज्ञान में उपादेय बुद्धि तो छोड़नी ही होगी। उसके बिना तो सम्यग्दर्शन भी सम्भव नहीं है और सम्यग्दर्शन के बिना संयम होता नहीं है।

'पंचेन्द्रिय मन वश करो' का आशय इन्द्रियों को तोड़ना-फोड़ना नहीं वरन् उनके भोगों एवं उनके माध्यम से होने वाली ज्ञान की बर्बादी को रोकना ही है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी सम्भव है कि आत्मा का स्वभाव स्वपर-प्रकाशक है, तो फिर पर को जानने में क्या हानि है ?

पर को जाननामात्र बंध का कारण नहीं है। केवली भगवान पर को जानते ही हैं। यदि लोकालोक को जानने वाला पूर्णज्ञान हो तो फिर पर को नहीं जानने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। पर बात यह है कि छद्मस्थों (अल्पज्ञानियों) का उपयोग एक साथ अनेक ओर नहीं रहता, एक बार एक ज्ञेय को ही जानता है। जब उनका उपयोग पर की ओर रहता है तब-तब आत्मा जानने में नहीं आता, आ भी नहीं सकता। यही कारण है कि पर में उपयोग लगे रहने से आत्मा के जानने में, आत्मानुभूति में बाधा पहुंचती है। दूसरे इन्द्रियों के माध्यम से जितना भी जानना होता है, वह सब पुद्गल का ही होता है। यही कारण है कि इन्द्रियज्ञान आत्मज्ञान में साधक नहीं बल्कि बाधक है।

पर यह अपने को चतुर मानने वाला जगत कहता है कि अपना पाडा यदि दूसरे की भैंस का दूध पी आवे तो क्या हानि है ? अपनी भैंस का दूध दूसरों के पाडे को नहीं पीने देना चाहिए। पर उसे यह पता नहीं है यदि अपना पाडा प्रतिदिन दूसरे की भैंस का दूध पीता

रहेगा तो एक दिन वह उसी का हो जावेगा। उसी को अपनी माँ मानने लगेगा, जिसका दूध उसे प्रतिदिन मिलेगा। फिर वह आपकी भैंस को अपनी माँ न मान सकेगा।

आप समझते रहेंगे कि आपका पाडा दूसरे की भैंस का दूध पी रहा है, पर वह समझता है कि उसकी भैंस को वच्चा मिल गया है।

इसीप्रकार निरन्तर पर को ही जानने वाला ज्ञान भी एक तरह से पर का हो जाता है। वस्तुतः आत्मा को जानने वाला ज्ञान ही आत्मा का है, आत्मज्ञान है। पर को जानने वाला ज्ञान एक दृष्टि से ज्ञान ही नहीं है; वह तो अज्ञान है, ज्ञान की वर्वादी है।

लिखा भी है :–

आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान।
विश्वशान्ति का मूल है, वीतराग-विज्ञान ।।[1]

संयम की सर्वोत्कृष्ट दशा ध्यान है। वह आँख वंद करके होता है, खोलकर नहीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आत्मानुभव एवं आत्मध्यान इन्द्रियातीत होता है; आत्मानुभव एवं आत्मध्यानरूप संयम के लिए इन्द्रियों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है।

इन्द्रियज्ञान को भी हेय मानने वाले आत्मार्थी का जीवन अमर्यादित इन्द्रियभोगों में लगा रहे, यह संभव नहीं है।

कहा भी है:–

ग्यान कला जिनके घट जागी, ते जगमाँहि सहज वैरागी।
ग्यानी मगन विषैसुखमाँही, यह विपरीति संभवै नाहीं ।।४१।।[2]

उत्तमसंयम के धारी महाव्रती मुनिराजों के तो भोग की प्रवृत्ति देखी ही नहीं जाती। देशसंयमी अणुव्रती श्रावक के यद्यपि मर्यादित भोगों की प्रवृत्ति देखी जाती है, तथापि उसके तथा अव्रती सम्यग्दृष्टि के भी अनर्गल प्रवृत्ति नहीं होती।

आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होने वाला अन्तर्बाह्य उत्तमसंयम-धर्म हम सबको शीघ्रातिशीघ्र प्रकट हो, इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ और भावना भाता हूँ कि –

'वो दिन कब पाऊँ, घर को छोड़ वन जाऊँ।'

---

[1] डॉ० भारिल्ल : वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका, मंगलाचरण
[2] बनारसीदास : नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पृष्ठ १५६

उत्तमतप

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम प्रवचनसार की तात्पर्य-वृत्ति नामक संस्कृत टीका (७९वीं गाथा) में तप की परिभाषा आचार्य जयसेन ने इसप्रकार दी है :-

'समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः ।'

समस्त रागादि परभावों की इच्छा के त्याग द्वारा स्व स्वरूप में प्रतपन करना – विजयन करना तप है। तात्पर्य यह है कि समस्त रागादि भावों के त्यागपूर्वक आत्मस्वरूप में – अपने में लीन होना अर्थात् आत्मलीनता द्वारा विकारों पर विजय प्राप्त करना तप है।

इसीप्रकार का भाव प्रवचनसार की तत्त्वदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने भी व्यक्त किया है।[1] 'धवल' में इच्छा निरोध को तप कहा है।[2] इसप्रकार हम देखते हैं कि नास्ति से इच्छाओं का अभाव और अस्ति से आत्मस्वरूप में लीनता ही तप है।

तप के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। सम्यग्दर्शन के विना किया गया समस्त तप निरर्थक है।

कहा भी है :-

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं ।
ण लहंति वोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ।।५।।[3]

यदि कोई जीव सम्यक्त्व के विना करोड़ों वर्षों तक उग्र तप भी करे तो भी वह वोधिलाभ प्राप्त नहीं कर सकता।

इसीप्रकार का भाव पंडित दौलतरामजी ने भी व्यक्त किया है :-

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान विन कर्म झरैं जे ।
ज्ञानी के छिन माँहि, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते ।।[4]

---

[1] प्रवचनसार, गाथा १४ की टीका

[2] धवला पुस्तक १३, खण्ड ५, भाग ४, सूत्र २६, पृष्ठ ५४

[3] आचार्य कुन्दकुन्द : अष्टपाहुड़ (दर्शनपाहुड़), गाथा ५

[4] छहढाला, चतुर्थ ढाल, छन्द ५

देह और आत्मा का भेद नहीं जानने वाला अज्ञानी मिथ्यादृष्टि यदि घोर तपश्चरण भी करे तब भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। समाधिशतक में आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं :–

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः ।।३३।।

जो अविनाशी आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानता, वह घोर तपश्चरण करके भी मोक्ष को प्राप्त नहीं करता।

उत्तमतप सम्यक्चारित्र का भेद है और सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान विना नहीं होता। परमार्थ के विना अर्थात् शुद्धात्मतत्त्वरूपी परम अर्थ की प्राप्ति विना किया गया समस्त तप वालतप है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में लिखते हैं :–

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि।
तं सव्वं वालतवं वालवदं वेंति सव्वण्हू ।।१५२।।

परमार्थ में अस्थित अर्थात् आत्मानुभूति से रहित जो जीव तप करता है और व्रत धारण करता है, उसके उन सब व्रतों और तप को सर्वज्ञ भगवान वालव्रत और वालतप कहते हैं।

जिनागम में उत्तमतप की महिमा पद-पद पर गाई गई है। भगवती आराधना में तो यहाँ तक लिखा है :–

तं णत्थि जं ण लब्भइ तवसा सम्मं कएण पुरिसस्स।
अग्गीव तणं जलिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी ।।१४७२।।
सम्मं कदस्स अपरिस्सवस्स ण फलं तवस्स वण्णेदुं।
कोई अत्थि समत्थे जस्स वि जिब्भा सयसहस्सं ।।१४७३।।

जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो निर्दोष तप से पुरुष को प्राप्त न हो सके अर्थात् तप से सर्व उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है। जिसप्रकार प्रज्वलित अग्नि तृण को जलाती है; उसीप्रकार तपरूपी अग्नि कर्मरूप तृण को जलाती है। उत्तम प्रकार से किया गया कर्मास्रव रहित तप का फल वर्णन करने में हजार जिह्वा वाला भी समर्थ नहीं हो सकता।

तप की महिमा गाते हुए महाकवि द्यानतरायजी लिखते हैं :–

तप चाहें सुरराय, करम शिखर को वज्र है।
द्वादश विध सुखदाय, क्यों न करें निज सकति सम ।।

उत्तम तप सब मांहि बखाना, करम शैल को वज्र समाना ।[1]

उक्त पंक्तियों में दो-दो बार तप के लिए कर्मरूपी पर्वतों को भेदने वाला बताया गया है । यह भी कहा गया है कि जिस तप को देवराज इन्द्र भी चाहते हैं, जो वास्तविक सुख प्रदान करने वाला है; उसे दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त कर हम भी अपनी शक्ति अनुसार क्यों न करें ? अर्थात् हमें अपनी शक्ति अनुसार तप अवश्य करना चाहिए ।

जिस तप के लिए देवराज तरसें और जो तप कर्म-शिखर को वज्र समान हो वह तप कैसा होता होगा – यह बात मननीय है । उसे मात्र दो-चार दिन भूखे रहने या अन्य प्रकार से किये बाह्य काय-क्लेशादि तक सीमित नहीं किया जा सकता ।

उत्तमतप अपने स्वरूप और सीमाओं की सम्यक् जानकारी के लिए गंभीरतम अध्ययन, मनन और चिंतन की अपेक्षा रखता है ।

यदि भोजनादि नहीं करने का नाम ही तप होता तो फिर देवता उसके लिए तरसते क्यों ? भोजनादि का त्याग तो वे आसानी से कर सकते हैं । उनके भोजनादि का विकल्प भी हजारों वर्ष तक नहीं होता । यह बात संयम की चर्चा करते समय विस्तार से स्पष्ट की जा चुकी है ।

तप दो प्रकार का माना गया है :–

(१) बहिरंग और (२) अंतरंग ।

बहिरंग तप छह प्रकार का होता है[2] :–

(१) अनशन (२) अवमौदर्य (३) वृत्तिपरिसंख्यान (४) रसपरित्याग (५) विविक्त शय्यासन और (६) काय-क्लेश ।

इसीप्रकार अंतरंग तप भी छह प्रकार का होता है[3] :–

(१) प्रायश्चित्त (२) विनय (३) वैयावृत्य (४) स्वाध्याय (५) व्युत्सर्ग, और (६) ध्यान ।

इसप्रकार कुल तप बारह प्रकार के होते हैं ।

---

[1] दशलक्षण पूजन, तप सम्बन्धी छन्द

[2] अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्य तपः । तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र १९

[3] प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् । तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र २०

उक्त समस्त तपों में – चाहे वे वाह्य तप हों या अंतरंग, एक शुद्धोपयोगरूप वीतरागभाव की ही प्रधानता है। इच्छाओं के निरोधरूप शुद्धोपयोगरूपी वीतरागभाव ही सच्चा तप है। प्रत्येक तप में वीतराग भाव की वृद्धि होनी ही चाहिए – तभी वह तप है अन्यथा नहीं।

इस सन्दर्भ में आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी के विचार दृष्टव्य हैं :–

"अनशनादि को तथा प्रायश्चित्तादि को तप कहा है, क्योंकि अनशनादि साधन से प्रायश्चित्तादिरूप प्रवर्त्तन करके वीतरागभावरूप सत्यतप का पोषण किया जाता है; इसलिए उपचार से अनशनादि को तथा प्रायश्चित्तादि को तप कहा है। कोई वीतरागभावरूप तप को न जाने और इन्हीं को तप जानकर संग्रह करे तो संसार ही में भ्रमण करेगा। बहुत क्या, इतना समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य नाना विशेष बाह्यसाधन की अपेक्षा उपचार से किए हैं, उनको व्यवहारमात्र धर्मसंज्ञा जानना।"[1]

"ज्ञानीजनों को उपवासादि की इच्छा नहीं है, एक शुद्धोपयोग की इच्छा है; उपवासादि करने से शुद्धोपयोग बढ़ता है, इसलिए उपवासादि करते हैं। तथा यदि उपवासादि से शरीर या परिणामों की शिथिलता के कारण शुद्धोपयोग को शिथिल होता जाने तो वहाँ आहारादिक ग्रहण करते हैं............

प्रश्न :– यदि ऐसा है तो अनशनादिक को तपसंज्ञा कैसे हुई?

समाधान :– उन्हें बाह्य तप कहा है। सो बाह्य का अर्थ यह है कि – 'बाहर से औरों को दिखाई दे कि यह तपस्वी है,' परन्तु आप तो फल जैसे अंतरंग परिणाम होंगे, वैसा ही पायेगा; क्योंकि परिणामशून्य शरीर की क्रिया फलदाता नहीं है.......

बाह्य साधन होने से अंतरंग तप की वृद्धि होती है इसलिये उपचार से इनको तप कहा है; परन्तु यदि बाह्य तप तो करे और अंतरंग तप न हो तो उपचार से भी उसे तपसंज्ञा नहीं है।"[2]

"तथा अंतरंग तपों में प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूप जो क्रियाएँ; उनमें बाह्य प्रवर्तन उसे तो बाह्य

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३२

[2] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३१

तपवत् ही जानना। जैसे अनशनादि बाह्य क्रिया हैं उसीप्रकार यह भी बाह्य क्रिया हैं; इसलिए प्रायश्चित्तादि बाह्य साधन अंतरंग तप नहीं हैं। ऐसा बाह्य प्रवर्तन होने पर जो अंतरंग परिणामों की शुद्धता हो, उसका नाम अंतरंग तप जानना।"[1]

यद्यपि अंतरंग तप ही वास्तविक तप है, बहिरंग तप को उपचार से तपसंज्ञा है; तथापि जगतजनों को बाह्य तप करने वाला ही बड़ा तपस्वी दिखाई देता है।

एक घर के दो सदस्यों में से एक ने निर्जल उपवास किया; पर दिन भर गृहस्थी के कार्यों में ही उलझा रहा। दूसरे ने यद्यपि दिन में भोजन दो बार किया; किन्तु दिनभर आध्यात्मिक अध्ययन, मनन, चिन्तन, लेखन, पठन-पाठन करता रहा।

जगतजन उपवास करने वाले को ही तपस्वी मानेंगे, पठन-पाठन करने वाले को नहीं। जितना कोमल व्यवहार उपवास वाले से किया जायगा उतना पठन-पाठन वाले से नहीं। यदि उसने अधिक गड़बड़ की तो डाँट भी पड़ेगी। कहा जायगा कि तुमने तो दो-दो बार खाया है, उसका तो उपवास था। हर बात में उपवास वाले को प्राथमिकता प्राप्त होगी।

ऐसा क्यों होता है ?

इसलिए कि जगतजन उसे तपस्वी मानते हैं, जबकि उसने कुछ नहीं किया। उपवास किया अर्थात् भोजन नहीं किया, पानी नहीं पिया। यह सब तो नहीं किया हुआ। किया क्या ? कुछ नहीं। जबकि अध्ययन-मनन-चिन्तन, पठन-पाठन करने वाले ने यह सब किया है – बाह्य ही सही; पर ये सब स्वाध्याय के ही रूप हैं और स्वाध्याय भी एक तप है। पर उसे यह भोला जगत तपस्वी मानने को तैयार नहीं, क्योंकि उसे यह कुछ किया-सा ही नहीं लगता।

उपवास तो कभी-कभी किया जाता है, पर स्वाध्याय और ध्यान प्रतिदिन किये जाते हैं। स्वाध्याय और ध्यान अन्तरंग तप हैं और तपों में सर्वश्रेष्ठ हैं। फिर भी यह जगत स्वाध्याय और ध्यान करने वालों की अपेक्षा उपवासादि काय-क्लेश करने वालों को ही महत्त्व देता है।

यह दुनियाँ ऐसा भेद मुनिराजों में भी डालती है। दिन-रात आत्मचिन्तन में रत ज्ञानी-ध्यानी मुनिराजों की अपेक्षा जगत-प्रपंचों

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३२

में उलझे किन्तु दश-दश दिन तक उपवास के नाम पर लंघन करने वालों को बड़ा तपस्वी मानती है, उनके सामने ज्यादा झुकती है; जबकि आचार्य समन्तभद्र ने तपस्वी की परिभाषा इसप्रकार दी है :–

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ।।[1]

पंचेन्द्रियों के विषयों की आशा, आरम्भ और परिग्रह से रहित; ज्ञान, ध्यान और तप में लीन तपस्वी ही प्रशंसनीय है ।

उपवास के नाम पर लंघन की बात क्यों करते हो ?

इसलिये कि ये लोग उपवास का भी तो सही स्वरूप नहीं समझते । मात्र भोजन-पान के त्याग को उपवास मानते हैं, जबकि उपवास तो आत्मस्वरूप के समीप ठहरने का नाम है । नास्ति से भी विचार करें तो पंचेन्द्रियों के विषय, कषाय और आहार के त्याग को उपवास कहा गया है, शेष तो सब लंघन है ।

कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते ।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः ।।[2]

इसप्रकार हम देखते हैं कि कषाय, विषय और आहार के त्यागपूर्वक आत्मस्वरूप के समीप ठहरना – ज्ञान-ध्यान में लीन रहना ही वास्तविक उपवास है । किन्तु हमारी स्थिति क्या है ? उपवास के दिन हमारी कषायें कितनी कम होती हैं ? उपवास के दिन तो ऐसा लगता है जैसे हमारी कषायें चौगुनी हो गई हैं ।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि उक्त बारह तपों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा, इसीप्रकार अन्त तक उत्तरोत्तर तप अधिक उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण हैं । अनशन पहला तप है और ध्यान अन्तिम । ध्यान यदि लगातार अन्तर्मुहूर्त करे तो निश्चित रूप से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, किन्तु उपवास वर्ष भर भी करे तो केवलज्ञान की गारण्टी नहीं । यह नकली उपवास की बात नहीं, असली उपवास की बात है । प्रथम तीर्थंकर मुनिराज ऋषभदेव दीक्षा लेते ही एक वर्ष एक माह और सात दिन तक निराहार रहे, फिर भी हजार वर्ष तक केवलज्ञान नहीं हुआ । भरत चक्रवर्ती को दीक्षा लेने के बाद आत्मध्यान के बल से एक अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान हो गया ।

---

[1] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, छन्द १०
[2] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३१

अनशन से अवमौदर्य, अवमौदर्य से वृत्तिपरिसंख्यान, वृत्तिपरिसंख्यान से रसपरित्याग अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए इनका सामान्य स्वरूप जानना आवश्यक है।

अनशन में भोजन का पूर्णतः त्याग होता है, पर अवमौदर्य में एक बार भोजन किया जाता है; इसकारण इसे एकासन भी कहते हैं। यद्यपि इसमें एक बार भोजन किया जाता है, तथापि भर पेट नहीं; इसकारण इसे ऊनोदर भी कहते हैं। किन्तु आज यह ऊनोदर न रहकर दूनोदर हो गया है; क्योंकि लोग एकासन में एक समय का नहीं, दोनों समय का गरिष्ठ भोजन कर लेते हैं।

भोजन को जाते समय अनेक प्रकार की अटपटी प्रतिज्ञाएँ ले लेना, उनकी पूर्ति पर ही भोजन करना; अन्यथा उपवास करना वृत्तिपरिसंख्यान है। षटरसों में कोई एक-दो या छहों ही रसों का त्याग करना, नीरस भोजन लेना रसपरित्याग है।

उपर्युक्त चारों ही तप भोजन या भोजन-त्याग से सम्बन्धित हैं। इनमें इच्छाओं का निरोध एवं शारीरिक आवश्यकताओं के बीच कितना संतुलित नियमन है – यह दृष्टव्य है।

इनमें एक वैज्ञानिक क्रमिक विकास है। यदि चल सके तो भोजन करो ही नहीं (अनशन); न चले तो एक बार दिन में शांति से अल्पाहार लो (अवमौदर्य); वह भी अनेक नियमों के बीच बँध कर, अनर्गल नहीं (वृत्तिपरिसंख्यान); और जहाँ तक बन सके नीरस हो क्योंकि सरस आहार गृद्धता बढ़ाता है, पर शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति करने वाला होना चाहिए, अतः सभी रसों का सदा त्याग नहीं किन्तु बदल-बदल कर विभिन्न रसों का विभिन्न समयों पर त्याग हो, जिससे शरीर की आवश्यकता-पूर्ति भी होती रहे और जिह्वा की लोलुपता पर भी प्रतिबन्ध रहे (रसपरित्याग)।

इससे स्पष्ट है कि तप शरीर के सुखाने का नाम नहीं, इच्छाओं के निरोध का नाम है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि अनशन से ऊनोदर अधिक महत्त्वपूर्ण क्यों है? जबकि अनशन में भोजन किया ही नहीं जाता और ऊनोदर में दिन में एक बार भूख से कम खाया जाता है।

अन्य कार्यों में उलझे रहकर भोजन के पास फटकना ही नहीं की अपेक्षा निर्विघ्न भोजन की प्राप्ति हो जाने पर उसका स्वाद चख लेने

पर भी अधपेट रह जाने में – बीच में ही भोजन छोड़ देने में इच्छा का निरोध अधिक है।

इसीप्रकार भोजन को जाना ही नहीं अलग बात है, किन्तु जाकर भी अटपटे नियमों के अनुसार भोजन न मिलने पर भोजन नहीं करना अलग बात है। उससे इसमें इच्छा-निरोध अधिक है। तथा सरस भोजन की प्राप्ति होने पर भी नीरस भोजन करना – उससे भी अधिक इच्छा निरोध की कसौटी है।

अनशन में इच्छाओं की अपेक्षा पेट का निरोध अधिक है। ऊनोदरादि में क्रमशः पेट के निरोध की अपेक्षा इच्छाओं का निरोध अधिक है। अतः अनशनादि की अपेक्षा आगे-आगे के तप अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हमने पेट के काटने को तप मान लिया है जबकि आचार्यों ने इच्छाओं के काटने को तप कहा है।

उक्त तपों में शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुये रसनेन्द्रिय पर पूरा-पूरा अनुशासन रखा गया है। उन्होंने जीवन भर किसी रस विशेष का त्याग करने की अपेक्षा बदल-बदल कर रसों के त्याग पर बल दिया। रविवार को नमक नहीं खाना, बुधवार को घी नहीं खाना आदि रसियों की कल्पना में यही भावना काम करती है। एक रस छह दिन खाने और एक दिन नहीं खाने से शरीर के लिए आवश्यक तत्त्वों की कमी भी नहीं होगी और स्वाद की प्रमुखता भी समाप्त हो जावेगी।

कोई व्यक्ति यदि जीवन भर को नमक या घी छोड़ देता है तो प्रारम्भ के कुछ दिनों तक तो उसे भोजन बेस्वाद लगेगा, परन्तु बाद में उसी भोजन में स्वाद आने लगेगा; शरीर में उस तत्त्व की कमी हो जाने से स्वास्थ्य में गड़बड़ी हो सकती है। किन्तु छह दिन खाने के बाद यदि एक दिन घी या नमक न भी खावे तो शारीरिक क्षति बिल्कुल न होगी और भोजन बेस्वाद हो जावेगा; अतः रसना पर अंकुश रहेगा।

एक मुनिराज ने एक माह का उपवास किया। फिर आहार को निकले। निरंतराय आहार मिल जाने पर भी एक ग्रास भोजन लेकर वापिस चले गये। फिर एक माह का उपवास कर लिया। यह ऊनोदर का उत्कृष्ट उदाहरण है।

अज्ञानी कहता है कि जब दो माह का ही उपवास करना था तो फिर एक ग्रास भोजन करके भोजन का नाम ही क्यों किया? नहीं करते तो दो माह का रिकार्ड बन जाता।

अज्ञानी सदा रिकार्ड बनाने के जोड़-तोड़ में ही रहता है। धर्म के लिए – तप के लिए रिकार्ड की आवश्यकता नहीं। रिकार्ड से तो मान का पोषण होता है। मान का अभिलाषी रिकार्ड बनाने के चक्कर में रहता है। धर्मात्मा को रिकार्ड की क्या आवश्यकता है? मुनिराज ने भोजन को जाकर उपवास नहीं तोड़ा; उससे हो जाने वाले मान को तोड़ा है। एक माह बाद भोजन को इसलिए गये कि वे जानना चाहते थे कि जिस इच्छा को मारने के लिये उन्होंने उपवास किया है, वह मरी या नहीं, कमजोर हुई या नहीं? निरंतराय आहार मिलने पर भी एक ग्रास लेकर छोड़ आये, जिससे पता लगा कि इच्छा का बहुत-कुछ निरोध हो गया है।

निर्दोष एकान्त स्थान में प्रमादरहित सोने-बैठने की वृत्ति विविक्तशय्यासन तथा आत्मसाधना एवं आत्माराधना में होने वाले शारीरिक कष्टों की परवाह नहीं करना कायक्लेश तप है। इनमें ध्यान रखने की बात यह है कि काय को क्लेश देना तप नहीं है, वरन् कायक्लेश के कारण आत्माराधना में शिथिल नहीं होना मुख्य बात है।

इच्छाओं का निरोध होकर वीतराग भाव की वृद्धि होना तप का मूल प्रयोजन है। कोई भी तप जब तक उक्त प्रयोजन की सिद्धि करता है, तब तक ही वह तप है।

यह तो सामान्यरूप से बाह्य तपों की संक्षिप्त चर्चा हुई। इनमें प्रत्येक पृथक्-पृथक् विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है, किन्तु इसके लिए यहाँ अवकाश नहीं है। अब थोड़े रूप में कतिपय अन्तरंग तपों पर विचार अपेक्षित है।

जिन अंतरंग तपों के संबंध में बहुत भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित हैं, उनमें विनयतप भी एक है।

जब भी विनयतप की चर्चा चलती है तब-तब वर्त्तमान में प्रचलित अनुशासनहीनता को कोसा जाने लगता है। नवीन पीढ़ी के विरुद्ध शिकायतें की जाती हैं। उन्हें उपदेश दिया जाने लगता है कि आज के बच्चों में विनय तो रही ही नहीं। ये लोग न अध्यापक के पैर छुएँगे, न माता-पिता के, आदि न जाने क्या-क्या कहा जाता है?

मैं यह नहीं कहता कि माता-पिता की विनय नहीं करना चाहिए। माता-पिता आदि गुरुजनों की यथायोग्य विनय तो की ही जानी चाहिए। मेरा कहना तो यह है कि माता-पिता की विनय, विनयतप नहीं है। क्योंकि तप मुनियों के होता है और मुनि बनने के पहले ही माता-पिता का त्याग हो जाता है।

माता-पिता आदि की विनय लौकिक विनय है और विनयतप में अलौकिक अर्थात् धार्मिक-आध्यात्मिक विनय की बात आती है।

विनयतप चाहे जहाँ माथा टेक देने वाले तथाकथित दीन गृहस्थों के नहीं, पंचपरमेष्ठी के अतिरिक्त कहीं भी नहीं नमने वाले मुनिराजों के होता है।

बिना विचारे जहाँ-तहाँ नमने का नाम विनयतप नहीं, वैनेयिक-मिथ्यात्व है। विनय अपने-आप में अत्यन्त महान आत्मिक दशा है। सही जगह होने पर जहाँ वह तप का रूप धारण कर लेती है, वहीं गलत जगह की गई विनय अनंत संसार का कारण बनती है।

विनय सबसे बड़ा धर्म, सबसे बड़ा पुण्य, एवं सबसे बड़ा पाप भी है। विनय तप के रूप में सबसे बड़ा धर्म, सोलहकारण भावनाओं में विनयसम्पन्नता के रूप में तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण होने से सबसे बड़ा पुण्य, और विनयमिथ्यात्व के रूप में अनंत संसार का कारण होने से सबसे बड़ा पाप है।

विनय के प्रयोग में अत्यन्त सावधानी आवश्यक है। कहीं ऐसा न हो कि आप जिसे विनयतप समझकर कर रहे हों, वह विनय-मिथ्यात्व हो। इसका ध्यान रखिए कि कहीं आप विनयतप या विनय-सम्पन्नता भावना के नाम पर विनयमिथ्यात्व का पोषण कर अनंत संसार तो नहीं बढ़ा रहे हैं?

विनय का यदि सही स्थान पर प्रयोग हुआ तो तप होने से कर्म को काटेगी, किन्तु गलत स्थान पर प्रयुक्त विनय मिथ्यात्व होने से धर्म को ही काट देती है। यह एक ऐसी तलवार है जो चलाई तो अपने माथे पर जाती है और काटती है शत्रुओं के माथों को, पर सही प्रयोग हुआ तो। यदि गलत प्रयोग हुआ तो अपना माथा भी काट सकती है। अतः इसका प्रयोग अत्यन्त सावधानी से किया जाना चाहिए।

अपना माथा कोई सड़ा नारियल नहीं जो चाहे जहाँ फोड़ दिया जाय। कहाँ झुकना और कहाँ नहीं झुकना – इसका भी जिसको विवेक नहीं है वह सही जगह झुककर भी लाभ नहीं उठा सकता। क्योंकि विवेकपूर्वक किया गया आचरण ही सफल होता है। आचार्य समन्तभद्र ने परीक्षा किए विना आप्त को भी नमस्कार नहीं किया।

जिसने अपने माथे की कीमत नहीं की, उसकी जगत में कौन कीमत करेगा ? नमना, झूँठी प्रशंसा करना आज व्यवहार वन गया है। मैं दूसरों की विनय या प्रशंसा करूँगा तो दूसरे मेरी विनय व प्रशंसा करेंगे – इस लोभ से नमने वालों एवं प्रशंसा करने वालों की क्या कीमत है ? अरे भाई ! जगत से क्या प्रशंसा चाहना ? भगवान की वाणी में जिसके लिए 'भव्य' शब्द भी आ गया वह धन्य है, इससे बड़ी प्रशंसा और क्या होगी ?

'क्या कहा' – इसकी कीमत नहीं; 'किसने कहा' – इसकी कीमत है। भगवान ने यदि 'भव्य' कहा तो इससे महान अभिनन्दन और क्या होगा ? भगवान की वाणी में 'भव्य' आया तो मोक्ष प्राप्त होने की गारंटी हो गई। पर इस मूर्ख जगत ने यदि भगवान भी कह दिया तो उसकी क्या कीमत ? स्वभाव से तो सभी भगवान हैं, पर जो पर्याय से भी वर्त्तमान में हमें भगवान कहता है, उसने हमें भगवान नहीं वनाया वरन् अपनी मूर्खता व्यक्त की है।

विनय बहुत ऊँची चीज है, उसे इतने नीचे स्तर पर नहीं लाना चाहिए। भाई साहव ! विनय तो वह तप है जिससे निर्जरा और मोक्ष होता है, वह क्या चापलूसी से हो सकता है ? नहीं, कदापि नहीं।

यदि मात्र चरणों में झुकने और नमस्ते करने का नाम विनय-तप होता तो फिर देवता इसके लिए क्यों तरसते, उन्हें किसी के सामने नमने में क्या दिक्कत थी ? फिर शास्त्रकार यह क्यों कहते हैं कि उनके तप नहीं है ?

माँ-बाप के सामने झुकने का नाम तो विनयतप है ही नहीं, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के सामने झुकने का नाम भी निश्चय से विनयतप नहीं है – उपचारविनय है।

विनयतप चार प्रकार का होता है :–

(१) ज्ञानविनय, (२) दर्शनविनय, (३) चारित्रविनय और (४) उपचारविनय।

उपचारविनय में कुछ लोग माता-पिता आदि लौकिकजनों की विनय को लेते हैं पर यह ठीक नहीं है।

ज्ञानविनय निश्चयविनय है और ज्ञानी की विनय उपचारविनय है, दर्शनविनय निश्चयविनय है और सम्यग्दृष्टि की विनय उपचार-विनय है, चारित्र की विनय निश्चयविनय है और चारित्रवंतों की विनय उपचारविनय है। इसप्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विनय निश्चयविनय और इनके धारक देव-गुरुओं की विनय उपचार-विनय है।

विनयतप तपधर्म का भेद है, अतः इसका उपचार भी धर्मात्माओं में ही किया जा सकता है; लौकिक जनों में नहीं।

किसी के चरणों में मात्र माथा टेक देने का नाम विनयतप नहीं है। बाहर से तो मायाचारी जितना नमता है – हो सकता है असली विनयवान उतना नमता दिखाई न भी दे। यहाँ बाह्य विनय की बात नहीं, अंतरंग बहुमान की बात है; विनय अंतरंग तप है। बाहर से नमने वालों की फोटू खींची जा सकती है, अंतरंग वालों की नहीं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र के प्रति अन्तर में अनन्त बहुमान के भाव और उनकी पूर्णता को प्राप्त करने के भाव का नाम विनयतप है।

बाहर से नमनेरूप विनय तो कभी-कभी ही देखी जा सकती है, पर बहुमान का भाव तो सदा रहता है। अतः ज्ञान-दर्शन-चारित्र के प्रति अत्यन्त महिमावंत मुनिराजों के विनयतप सदा ही रहता है।

वैयावृत्यतप के सम्बन्ध में भी जगत में कम भ्रान्त धारणाएँ नहीं हैं। तपस्वी साधुओं की सेवा करने, पैर दबाने आदि को ही वैयावृत्य समझा जाता है।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि वैयावृत्ति करना तप है या कराना अर्थात् दूसरों के पैर दाबना तप है या दूसरों से पैर दबवाना तप है? यदि पैर दाबना तप है तो फिर पैर दाबने वाले गृहस्थ के तप हुआ, दबवाने वाले मुनिराज के नहीं; जबकि तपस्वी मुनिराज को कहा जाता है। ये बारह तप हैं भी मुख्यतः मुनिराजों के ही।

यदि आप यह कहें कि पैर दबवाना तप है तो फिर ऐसा तप किसे स्वीकार न होगा? दूसरे हमारी सेवा करें और सेवा करवाने से हम तपस्वी हो जावें, इससे अच्छा और क्या होगा?

विना विचारे हम सव पैर दवाते आ रहे हैं और मानते आ रहे हैं कि हम वैयावृत्ति कर रहे हैं, इसका फल हमें अवश्य मिलेगा। साथ ही यह भी मानते आ रहे हैं कि वैयावृत्यतप मुनियों के होता है।

वैयावृत्ति का अर्थ सेवा होता है – यह सही है। पर सेवा का अर्थ पैर दवाना हमने लगा लिया है। वैयावृत्ति में पैर भी दवाये जाते हैं, पर पैर दवाना ही मात्र वैयावृत्ति नहीं है। सेवा स्व और पर दोनों की होती है। वास्तविक सेवा तो स्व और पर को आत्महित में लगाना है। आत्महित एकमात्र शुद्धोपयोगरूप दशा में है। शुद्धोपयोगरूप रहने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना ही वास्तविक वैयावृत्ति है।

यदि रोग आदि के कारण अपना या दूसरे साथी मुनिराज का चित्त स्थिरता को प्राप्त न हो पा रहा हो तो 'पैर दवाना' आदि के द्वारा उनके चित्त को स्थिरता प्रदान करना भी वैयावृत्ति है; किन्तु विना किसी कारण आराम से पैर दवाते-दववाते रहना कभी वैयावृत्ति नहीं हो सकती। और हो भी तो वह तप नहीं; अन्तरंग तप तो कदापि नहीं।

यदि कोई मुनिराज भयंकर पीड़ा से कराह रहे हैं, उनका चित्त स्थिर नहीं हो पा रहा है; ऐसी स्थिति में उन्हें कोरा उपदेश देने पर उनके परिणामों में स्थिरता आना सम्भव नहीं है। पर यदि उनकी सेवा करते हुए उन्हें सम्वोधित किया जाय तो स्थिरता शीघ्र प्राप्त हो सकती है। एकमात्र यही कारण है जिससे शारीरिक सेवा को वैयावृत्यतप में स्थान प्राप्त है।

विनय और वैयावृत्यतप के वारे में विचार करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि ये अन्तरंग तप हैं, वाह्यप्रवृत्तिमात्र से इनको जोड़ना ठीक नहीं।

स्वाध्याय भी अंतरंग तप है। स्वाध्याय को परमतप कहा गया है (स्वाध्यायं परमं तपः)। पर आज तो हम प्रातः उठकर सवसे पहिले समाचार-पत्रों का स्वाध्याय करने लगे हैं।

यहाँ-वहाँ का कुछ भी पढ़ लेना स्वाध्याय नहीं है, आत्महितकारी शास्त्रों का अध्ययन-मनन-चिन्तन भी उपचार से स्वाध्याय है। वास्तविक स्वाध्याय तो आत्मज्ञान का प्राप्त होना ही है। स्व+अधि+अय=स्वाध्याय। 'स्व' माने निज का, 'अधि' माने ज्ञान और 'अय' माने प्राप्त होना – इसप्रकार निज का ज्ञान प्राप्त होना ही स्वाध्याय है; पर का ज्ञान तो पराध्याय है।

यद्यपि स्वाध्याय के भेदों में वांचना, पृच्छना आदि आते हैं तथापि यद्वा-तद्वा कुछ भी वाँचना, पूछना स्वाध्याय नहीं है। क्या वाँचना? कैसे वाँचना? क्या पूछना? किससे पूछना? कैसे पूछना? आदि विवेकपूर्वक किये गये वाँचना, पृच्छना आदि ही स्वाध्याय कहे गये हैं।

मंदिर में गये; जो भी शास्त्र हाथ लगा, उसी को – जहाँ से खुल गया दो चार पंक्तियाँ खड़े-खड़े पढ़लीं और स्वाध्याय हो गया, वह भी इसलिये कि महाराज प्रतिज्ञा लिवा गये थे कि 'प्रतिदिन स्वाध्याय अवश्य करना' – यह स्वाध्याय नहीं है।

हमें आध्यात्मिक ग्रंथों के स्वाध्याय की वैसी रुचि भी कहाँ है जैसी कि विषय-कषाय और उसके पोषक साहित्य पढ़ने की है। ऐसे बहुत कम लोग होंगे जिन्होंने किसी आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक या दार्शनिक ग्रन्थ का स्वाध्याय आद्योपान्त किया हो। साधारण लोग तो बँधकर स्वाध्याय करते ही नहीं, पर ऐसे विद्वान भी बहुत कम मिलेंगे जो किसी भी महान ग्रन्थ का जमकर अखण्डरूप से स्वाध्याय करते हों। आदि से अन्त तक अखण्डरूप से हम किसी ग्रन्थ को पढ़ भी नहीं सकते तो फिर उसकी गहराई में पहुँच पाना कैसे संभव है? जब हमारी इतनी भी रुचि नहीं कि उसे अखण्डरूप से पढ़ भी सकें तो उसमें प्रतिपादित अखण्ड वस्तु का अखण्ड स्वरूप हमारे ज्ञान और प्रतीति में कैसे आवे?

विषय-कषाय के पोषक उपन्यासादि को हमने कभी अधूरा नहीं छोड़ा होगा, उसे पूरा करके ही दम लेते हैं; उसके पीछे भोजन को भी भूल जाते हैं। क्या आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन में भी कभी भोजन को भूले हैं? यदि नहीं, तो निश्चित समझिये हमारी रुचि अध्यात्म में उतनी नहीं जितनी विषय-कषाय में है।

'रुचि अनुयायी वीर्य' के नियमानुसार हमारी सम्पूर्ण शक्ति वहीं लगती है, जहाँ रुचि होती है। स्वाध्यायतप के उपचार को भी प्राप्त करने के लिए हमें आध्यात्मिक साहित्य में अनन्य रुचि जागृत करनी होगी।

स्वाध्यायतप के पाँच भेद किये गये हैं :–

(१) वांचना, (२) पृच्छना (पूछना), (३) अनुप्रेक्षा (चिन्तन), (४) आम्नाय (पाठ) और (५) धर्मोपदेश।

इनमें स्वाध्याय की प्रक्रिया का क्रमिक विकास लक्षित होता है।

प्रथम, तत्त्वनिरूपक-आध्यात्मिक ग्रन्थों को बांचना और अपनी बुद्धि से जितना भी मर्म निकाल सकें, पूरी शक्ति से निकालना – 'वांचना स्वाध्याय' है।

उसके बाद भी यदि कुछ समझ में न आवे तो समझने के उद्देश्य से किसी विशेष ज्ञानी से विनयपूर्वक पूछना – 'पृच्छना स्वाध्याय' है।

जो वाँचा है उस पर तथा पूछने पर ज्ञानी महापुरुष से जो उत्तर प्राप्त हुआ हो, उस पर गंभीरतापूर्वक विचार करना, चिन्तन करना – 'अनुप्रेक्षा स्वाध्याय' है।

बाँचना, पृच्छना, और अनुप्रेक्षा के बाद निर्णीत विषय को स्थिर धारणा के लिए बारम्बार घोखना, पाठ करना–'आम्नाय स्वाध्याय' है।

बाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और आम्नाय (पाठ) के बाद जब विषय पर पूरा-पूरा अधिकार हो जावे तब उसका दूसरे जीवों के हितार्थ उपदेश देना – 'धर्मोपदेश' नाम का स्वाध्याय है।

उक्त विवेचन से निश्चित होता है कि मात्र बाँचना ही स्वाध्याय नहीं, आत्महित की दृष्टि से समझने के लिए पूछना भी स्वाध्याय है, चिन्तन और पाठ भी स्वाध्याय है, यहाँ तक कि यशादि के लोभ के बिना स्व-परहित की दृष्टि से किया गया धर्मोपदेश भी स्वाध्यायतप में आता है।

पर इनमें एक क्रम है। आज हम उस क्रम को भूल गये हैं। हम शास्त्रों को बाँचे बिना ही पूछना आरम्भ कर देते हैं। यही कारण है कि हमारे प्रश्न ऊटपटांग होते हैं। जब तक किसी विषय का स्वयं गंभीर अध्ययन नहीं किया जायगा तब तक तत्संबंधित गंभीर प्रश्न भी कहाँ से आवेंगे ?

बहुत से प्रश्न दूसरों की परीक्षा के लिए भी किये जाते हैं। वे 'पृच्छना स्वाध्याय' में नहीं आते। जो निरन्तर दूसरों की बुद्धि परखने के लिए ही प्रश्न उछाला करते हैं, उनको लक्ष्य करके महाकवि बनारसीदासजी ने लिखा है :–

'परनारी संग परबुद्धि कौ परखिवौ'[१]

अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिये ही विनयपूर्वक प्रश्न किये जाने चाहिये। उद्दण्डतापूर्वक वक्ता का गला पकड़ने की कोशिश करना स्वाध्यायतप तो है ही नहीं, जिनवाणी की विराधना का अधम कार्य है।

---

[१] बनारसीदास : नाटक समयसार, साध्य-साधकद्वार, छन्द २९

चिन्तन तो हमारे जीवन से समाप्त ही हो रहा है। पाठ भी किया जाता है, पर बिना समझे मात्र दुहराना होता है; दुहराना भी सही रूप से कहाँ हो पाता है ?

भक्तामर और तत्त्वार्थसूत्र का नित्य पाठ सुनने वाली बहुतसी माता-बहिनों को उनमें प्रतिपादित विषयवस्तु की बात तो बहुत दूर, उसमें कितने अध्याय हैं – इतना भी पता नहीं होता है। किन्हीं महाराज से प्रतिज्ञा ले ली है कि सूत्रजी का पाठ सुने बिना भोजन नहीं करूँगी – सो उसे ढोये जा रही हैं।

वास्तविक 'पाठ' तो वाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षापूर्वक होता है। विषय का मर्म ख्याल में आ जाने के बाद उसे धारणा में लेने के उद्देश्य से 'पाठ' किया जाता है।

उपदेश का क्रम सबसे अन्त में आता है, पर आज हम उपदेशक पहिले बनना चाहते हैं – वाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और आम्नाय के बिना ही। धर्मोपदेश के सुनने वाले भी इसके प्रति सावधान नहीं दिखाई देते। धर्मोपदेश के नाम पर कोई भी उन्हें कुछ भी सुना दे; उन्हें तो सुनना है, सो सुन लेते हैं। वक्ता और वक्तव्य पर उनका कोई ध्यान ही नहीं रहता।

मैं एक बात पूछता हूँ कि यदि आपको पेट का ऑपरेशन कराना हो तो क्या बिना जाने चाहे जिससे करा लेंगे ? डॉक्टर के बारे में पूरी-पूरी तपास करते हैं। डॉक्टर भी जिस काम में माहिर न हो, वह काम करने को सहज तैयार नहीं होता। डॉक्टर और ऑपरेशन की बात तो बहुत दूर; यदि हम कुर्त्ता भी सिलाना चाहते हैं तो होशियार दर्जी तलाशते हैं, और दर्जी भी यदि कुर्त्ता सीना नहीं जानता हो तो सीने से इन्कार कर देता है। पर धर्म का क्षेत्र ऐसा खुला है कि चाहे जो बिना जाने-समझे उपदेश देने को तैयार हो जाता है और उसे सुनने वाले भी मिल ही जाते हैं।

वस्तुतः बात यह है कि धर्मोपदेश देने और सुनने को हम गंभीररूप से ग्रहण ही नहीं करते, यों ही हलके-फुलके निकाल देते हैं। अरे भाई ! धर्मोपदेश भी एक तप है, वह भी अंतरंग; इसे आप खेल समझ रहे हैं। इसकी गंभीरता को जानिए – पहचानिए। उपदेश देने-लेने की गंभीरता को समझिये, इसे मनोरंजन और समय काटने की चीज मत बनाये। यह मेरा विनम्र अनुरोध है।

जिनवाणी के योग्य वक्ता तथा श्रोताओंका सही स्वरूप महापंडित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रथम अधिकार में विस्तार से स्पष्ट किया है। जिज्ञासु पाठक तत्संबंधी जिज्ञासा वहाँ से शान्त करें।

स्वाध्याय एक ऐसा तप है कि अन्य तपों में जो लाभ हैं वे तो इसमें हैं ही, साथ में यह ज्ञानवृद्धि का भी एक अमोघ उपाय है। इसमें कोई विशेष कठिनाई व प्रतिवंध भी नहीं हैं। चाहे जव कीजिए – दिन को, रात को; स्त्री-पुरुष, वाल-वृद्ध-युवक सभी करें। एक वार नियमित स्वाध्याय करके तो देखिये, इसके असीम लाभ से आप स्वयं भली-भाँति परिचित हो जावेंगे।

प्रमाद व अज्ञान से लगे दोषों की शुद्धि के लिए आत्म-आलोचना, प्रतिक्रमणादि द्वारा प्रायश्चित्त करना प्रायश्चित्ततप है।

वाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्याग को व्युत्सर्गतप कहते हैं। इसकी विस्तृत चर्चा त्याग व आकिंचन्य धर्म में आगे विस्तार से होगी ही।

अव रही वात ध्यान की। सो ध्यान तो सर्वोत्कृष्ट तप है। ध्यान की अवस्था में ही सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। यहाँ ध्यान से तात्पर्य आर्त्त-रौद्रध्यान से नहीं, शुभभावरूप धर्मध्यान से भी नहीं; वल्कि उस शुद्धोपयोगरूप ध्यान से है जो कर्म-ईंधन को जलाने में अग्नि का काम करता है, जिसकी परिभाषा आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के नववें अध्याय में इसप्रकार दी है :–

'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचितानिरोधो ध्यानमान्तमुंहूर्तात्' ।।२७।।

वैसे तो दुकानदार ग्राहक का, डॉक्टर मरीज का, पति पत्नी का निरन्तर ही ध्यान करते हैं। पर मात्र चित्त का एक ओर ही एकाग्र हो जाना ध्यानतप नहीं है, वरन् 'स्व' में एकाग्र होना ध्यानतप है। भले ही पर में एकाग्र होना भी ध्यान हो, पर ध्यानतप नहीं। ध्यानतप तो समस्त 'पर' एवं विषय-विकारों से चित्त को हटाकर एक आत्मा में स्थिर होना ही है। यदि शुद्धोपयोगरूप ध्यान की दशा एक अन्तर्मुहूर्त्त भी रह जावे तो केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

समस्त तपों का सार ध्यानतप है, इसकी सिद्धि के लिए ही शेष सव तप हैं।

इस परम पवित्र ध्यानतप को पाकर सभी आत्माएँ शीघ्र परमात्मा वनें – इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

उत्तमत्याग

उत्तमत्यागधर्म की चर्चा जब भी चलती है तब-तब प्राय: दान को ही त्याग समझ लिया जाता है। त्याग के नाम पर दान के ही गीत गाये जाने लगते हैं, दान की ही प्रेरणाएँ दी जाने लगती हैं।

सामान्यजन तो दान को त्याग समझते ही हैं; किन्तु आश्चर्य तो तब होता है जब उत्तमत्यागधर्म पर वर्षों व्याख्यान करने वाले विद्वज्जन भी दान के अतिरिक्त भी कोई त्याग होता है – यह नहीं समझाते या स्वयं भी नहीं समझ पाते।

यद्यपि जिनागम में दान को भी त्याग कहा गया है, दान देने की प्रेरणा भी भरपूर दी गई है, दान की भी अपनी एक उपयोगिता है, महत्त्व भी है; तथापि जब गहराई में जाकर निश्चय से विचार करते हैं तो दान और त्याग में महान अन्तर दिखाई देता है। दान और त्याग बिल्कुल भिन्न-भिन्न दो चीजें प्रतीत होती हैं।

त्याग धर्म है, और दान पुण्य। त्यागियों के पास रंचमात्र भी परिग्रह नहीं होता, जबकि दानियों के पास ढेर सारा परिग्रह पाया जा सकता है।

त्याग की परिभाषा श्री प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका (गाथा २३९) में आचार्य जयसेन ने इसप्रकार दी है :–

'निजशुद्धात्मपरिग्रहं कृत्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः।'

निज शुद्धात्म के ग्रहणपूर्वक बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से निवृत्ति त्याग है।

इसी बात को बारस-अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा) में इसप्रकार कहा गया है :–

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्व दव्वेसु।
जो तस्स हवेच्चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥७८॥

जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि जो जीव सम्पूर्ण परद्रव्यों से मोह छोड़कर संसार, देह और भोगों से उदासीनरूप परिणाम रखता है; उसके त्यागधर्म होता है।

'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में अकलंक देव सचेतन और अचेतन परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं।[1]

उक्त कथनों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यद्यपि त्याग शब्द निवृत्तिसूचक है, त्याग में बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग होता है; तथापि त्यागधर्म में निजशुद्धात्मा का ग्रहण अर्थात् शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणति भी शामिल है।

एक बात और भी स्पष्ट होती है कि त्याग परद्रव्यों का नहीं, अपितु अपनी आत्मा में परद्रव्यों के प्रति होने वाले मोह-राग-द्वेष का होता है। क्योंकि परद्रव्य तो पृथक् ही हैं, उनका तो आज तक ग्रहण ही नहीं हुआ है; अतः उनके त्याग का प्रश्न ही कहाँ उठता है? उन्हें अपना जाना है, माना है, उनसे राग-द्वेष किया है; अतः उन्हें अपना जानना, मानना (दर्शनमोह) एवं उनके प्रति राग-द्वेष करना (चारित्रमोह) छोड़ना है।

यही कारण है कि वास्तविक त्याग पर में नहीं, अपने में — अपने ज्ञान में होता है। यही भाव कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार में इसप्रकार व्यक्त किया है :—

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥३४॥

अपने से भिन्न समस्त परपदार्थों को 'ये पर हैं' — ऐसा जानकर जब त्याग किया जाता है तब वह प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग कहा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुतः ज्ञान ही प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग है।

त्याग ज्ञान में ही होता है अर्थात् पर को पर जानकर उससे ममत्वभाव तोड़ना ही त्याग है। इस बात को समयसार गाथा ३५ की आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने सोदाहरण इसप्रकार स्पष्ट किया है :—

"जैसे कोई पुरुष धोबी के घर से भ्रमवश दूसरे का वस्त्र लाकर, उसे अपना समझ ओढ़कर सो रहा है और अपने आप ही अज्ञानी हो रहा है; किन्तु जब दूसरा व्यक्ति उस वस्त्र का छोर पकड़कर खींचता

---

[1] परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्यागः इति निश्चीयते।
— अध्याय ९, सूत्र ६

है और उसे नग्न कर (उघाड़कर) कहता है कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र बदले में आ गया है, यह मेरा है सो मुझे दे दे'; तब बार-बार कहे गये इस वाक्य को सुनता हुआ वह, सर्व चिन्हों से भली-भांति परीक्षा करके, 'अवश्य यह वस्त्र दूसरे का ही है' ऐसा जानकर, ज्ञानी होता हुआ, उस वस्त्र को शीघ्र ही त्याग देता है।

इसीप्रकार ज्ञाता भी भ्रमवश परद्रव्य के भावों को ग्रहण करके उन्हें अपना जानकर अपने में एकरूप करके सो रहा है और अपने आप अज्ञानी हो रहा है। जब श्रीगुरु परभाव का विवेक करके उसे एक आत्मभावरूप करते हैं और कहते हैं कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा वास्तव में एकज्ञानमात्र ही है'; तब बारम्बार कहे गये इस आगमवाक्य को सुनता हुआ वह, समस्त चिन्हों से भली-भांति परीक्षा करके 'अवश्य यह परभाव ही हैं' यह जानकर, ज्ञानी होता हुआ, सर्व परभावों को तत्काल छोड़ देता है।"[1]

उक्त कथन से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि त्याग पर को पर जानकर किया जाता है। दान में यह बात नहीं है। दान उसी वस्तु का दिया जाता है जो स्वयं की हो; परवस्तु का त्याग तो हो सकता है, दान नहीं। दूसरे की वस्तु उठाकर किसी को दे देना दान नहीं, चोरी है।

इसीप्रकार त्याग वस्तु को अनुपयोगी, अहितकारी जानकर किया जाता है; जबकि दान उपयोगी और हितकारी वस्तु का दिया जाता है।

उपकार के भाव से अपनी उपयोगी वस्तु पात्रजीव को दे देना दान है। दान की परिभाषा आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय में इसप्रकार दी है :-

'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥'

उपकार के हेतु से धन आदि अपनी वस्तु को देना सो दान है।

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में लिखा है :-

'परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जनं दानम्'[2]

---

[1] यह आचार्य अमृतचन्द्र की संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद है।

[2] अध्याय ६, सूत्र १२ की टीका

दूसरे का उपकार हो, इस बुद्धि से अपनी वस्तु का अर्पण करना दान है।

दान में परोपकार का भाव मुख्य रहता है और अपने उपकार का गौण; किन्तु त्याग में स्वोपकार ही सब-कुछ है, दूसरों के उपकार के लिए मोह-राग-द्वेष नहीं त्यागे जाते हैं। यह बात अलग है कि अपने त्याग से प्रेरणा पाकर या अन्य किसी प्रकार से पर का भी उपकार हो जावे।

यदि कोई दान देता है तो उसका कर्त्तव्य है कि जिस काम के लिये दान दिया है, उसकी देख-रेख भी करे। कहीं ऐसा तो नहीं हो रहा है कि आपने धर्मशाला तो यात्रियों के ठहरने के लिए बनाई है और उसे किराये से उठा दिया गया हो; आपने पैसा तो दिया प्राचीन जिनालयों के जीर्णोद्धार के लिए और उससे अधिकारियों ने अपने आराम के लिए एयरकन्डीशन लगा लिया हो; आपने पैसा तो दिया वीतरागता के प्रचार-प्रसार के लिए और उससे राग को धर्म बताकर प्रचार किया जा रहा हो; आपने पैसा तो दिया धार्मिक-नैतिक शिक्षा के लिए और उससे शिक्षा दी जा रही हो कानून की।

कुछ लोग कहते हैं कि आपने तो दान दे दिया। अब आपको क्या मतलब कि उसका क्या हो रहा है, वह कहाँ खर्च हो रहा है, उसे कौन खा रहा है? जब आपने उसे त्याग ही दिया है तो उससे फिर क्या प्रयोजन?

ऐसी बातें वही लोग करते हैं जो या तो दान की परिभाषा नहीं जानते या फिर कुछ गड़बड़ी करना चाहते हैं, करते हैं; क्योंकि वे चाहते हैं कि वे चाहे जो करें, उन्हें कोई टोका-टोकी न करे। जिसे सही काम करना है, जो पैसा जिस उद्देश्य से प्राप्त हुआ है – उसी में लगाना है; उन्हें इसमें क्या ऐतराज हो सकता है कि दातार उनसे यह क्यों पूछता है कि जिस उद्देश्य से जिस कार्य के लिए उसने दान दिया था – वह हो रहा है या नहीं, उस उद्देश्य की पूर्त्ति हो रही है या नहीं?

वे यह भूल जाते हैं कि उसने पैसे का त्याग नहीं किया है, वरन् किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दान दिया है। दान उपकार के विकल्पपूर्वक दिया जाता है, अतः ज्ञानी-दानी को भी व्यवस्था देखने-जानने का सहज विकल्प आता है। ज्ञान-दान में भी जब किसी

को कोई कुछ समझाता है तो उसे यह सहज विकल्प आये बिना नहीं रहता कि सामने वाले की समझ में आ रहा है या नहीं।

दानी को पैसे से मोह छूट नहीं गया है, छूट गया होता तो फिर एक लाख देकर तीन लाख कमाने को क्यों जाता ? कमाने का पूरा-पूरा यत्न चालू है। इससे सिद्ध है कि पैसे के राग के त्याग के कारण दान नहीं दिया जा रहा है, बल्कि उपकार के भाव से दान दिया जाता है। यह बात अलग है कि उसकी लोभ कषाय कुछ मन्द अवश्य हुई है, अन्यथा दान भी सम्भव न होता; पर मन्द हुई है, अभाव नहीं; अभाव होता तो त्याग होता।

मोह या राग के आंशिक अभाव में भी त्यागधर्म प्रकट होता है। यही कारण है कि त्यागी को उसका ध्यान भी नहीं आता जिसे उसने त्यागा है। आना भी नहीं चाहिए, आवे तो त्याग कैसा ? उसे त्यागी हुई वस्तु के संभाल का भी विकल्प नहीं आता, क्योंकि अब वह उसे अपनी मानता-जानता ही नहीं एवं उससे उसे राग भी नहीं रहा। उसका जो होना हो सो हो, उसे उससे क्या ?

चक्रवर्ती जब राज-पाट त्याग कर नग्न दिगम्बर साधु बनते हैं तो उन्हें यह चिन्ता नहीं सताती कि इस राज का क्या होगा ? इसे कौन संभालेगा ? यदि हो तो फिर वे त्यागी नहीं। उससे उन्हें क्या प्रयोजन ? उन्होंने अपने हित के लिए, अपनी आत्मा की संभाल के लिए राज-पाट त्यागा है। वे यदि राज-पाट की ही चिन्ता करते रहें तो फिर उन्होंने त्यागा ही क्या है ? राज का वे करते भी क्या थे ? मात्र चिन्ता ही करते थे, सो कर ही रहे हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि दान में परोपकार का भाव मुख्य रहता है और त्याग में आत्महित का।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जो अपना है वह दूसरों को दिया नहीं जा सकता, जो दिया जा सकता है वह अपना नहीं हो सकता; 'पर' पर है, 'स्व' स्व है; स्व का दिया जाना संभव नहीं और पर का ग्रहण संभव नहीं – एक ओर तो आप यह कहते हैं। और दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि दान अपनी चीज का दिया जाता है – जब पर अपना है ही नहीं तब उसका क्या त्याग करना और जो दिया ही नहीं जा सकता, उसका क्या देना ? इसीप्रकार जब कोई किसी का भला-बुरा कर ही नहीं सकता, सब अपने भले-बुरे के कर्त्ता-धर्त्ता स्वयं हैं, तो फिर परोपकार की बात भी कहाँ ठहरती है ?

आपकी बात बिल्कुल ठीक है, पर समझने की बात यह है कि 'दान' व्यवहारधर्म है और 'त्याग' निश्चयधर्म।

वे धनादि परपदार्थ जिन पर लौकिक दृष्टि से अपना अधिकार है, व्यवहार से अपने हैं; उन्हें अपना जानकर ही दान दिया जाता है। लेन-देन स्वयं व्यवहार है, निश्चय में तो लेने-देने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। रही परपदार्थ के त्याग की बात, सो पर को पर जानना ही उनका त्याग है – इससे अधिक त्याग और क्या है? वे तो पर हैं हीं, उनको क्या त्यागें? पर बात यह है कि उन्हें हम अपना मानते हैं, उनसे राग करते हैं; अतः उनको अपना मानना और उनसे राग करना त्यागना है। इसलिये यह ठीक ही कहा है कि पर को पर जानकर उनके प्रति राग का त्याग करना ही वास्तविक त्याग है।

गहराई से विचार करें तो त्याग, मोह-राग-द्वेष का ही होता है; पर-पदार्थ तो मोह-राग-द्वेष के छूटने से स्वयं छूट जाते हैं। वे छूटे हुये ही हैं। इसीलिये भगवान को 'राग-द्वेषपरित्यागी' कहा गया है।

यदि आप कहें कि अभी तो यह कहा था कि त्याग पर का होता है और अब कहने लगे कि त्याग मोह-राग-द्वेष का होता है?

भाई! आध्यात्मिक दृष्टि से मोह-राग-द्वेष भी तो पर ही हैं। यद्यपि वे आत्मा में उत्पन्न होते हैं तथापि वे आत्मा के स्वभाव नहीं, अतः उन्हें भी आध्यात्मिक शास्त्रों में 'पर' कहा गया है।

जहाँ तक परोपकार की बात है, उसके सम्बन्ध में बात यह है कि यद्यपि कोई किसी का भला-बुरा नहीं कर सकता तथापि ज्ञानी को भी दूसरों के भले करने का भाव आये बिना रहता नहीं है, क्योंकि अभी उसके राग-भाव विद्यमान है। दूसरी बात यह है कि निश्चय से कोई किसी का भला-बुरा नहीं कर सकता, पर व्यवहार से तो शास्त्रों में भी एक-दूसरे के भले-बुरे करने की बात कही गई है; भले ही वह कथन उपचरित हो, कथन मात्र हो, पर है तो। 'दान' व्यवहारधर्म है, अतः वह परोपकार सम्बन्धी विकल्पपूर्वक ही होता है। यही कारण है कि वह पुण्य बंध का कारण होता है, बंध के अभाव का कारण नहीं। जो व्यक्ति उसे निश्चयधर्म मानकर बंध के अभाव (मुक्ति) का कारण मान बैठते हैं वे तो गलती करते ही हैं, साथ ही

वे भी गलती करते हैं जो उसे पुण्य बंध का कारण भी नहीं मानते अर्थात व्यवहारधर्म भी स्वीकार नहीं करते ।

त्याग खोटी चीज का किया जाता है और दान अच्छी चीज का दिया जाता है । यही कहा जाता है कि क्रोध छोड़ो, मान छोड़ो, माया छोड़ो, लोभ छोड़ो; यह कोई नहीं कहता कि ज्ञान छोड़ो । जो दुःख-स्वरूप हैं, दुःखकर हैं, आत्मा का अहित करने वाले हैं – वे मोह-राग-द्वेष रूप आस्रवभाव ही हेय हैं, त्यागने योग्य हैं, इनका ही त्याग किया जाता है । इनके साथ ही इनके आश्रयभूत अर्थात् जिनके लक्ष्य से मोह-राग-द्वेष भाव होते हैं – ऐसे पुत्रादि चेतन एवं धन-मकानादि अचेतन पदार्थों का भी त्याग होता है । पर मुख्य बात मोह-राग-द्वेष के त्याग की ही है, क्योंकि मोह-राग-द्वेष के त्याग से इनका त्याग नियम से हो जाता है; किन्तु इनके त्याग देने पर भी यह गारण्टी नहीं कि मोह-राग-द्वेष छूट ही जावेंगे ।

बहुत से लोग तो त्याग और दान को पर्यायवाची ही समझने लगे हैं । किन्तु उनका यह मानना एकदम गलत है । ये दोनों शब्द पर्यायवाची तो हैं ही नहीं, अपितु कुछ अंशों में इनका भाव परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध पाया जाता है ।

यदि ये दोनों शब्द एकार्थवाची होते तो एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग आसानी से किया जा सकता था । किन्तु जब हम इस प्रकार का प्रयोग करके देखते हैं तो अर्थ एकदम बदल जाता है । जैसे दान चार प्रकार का कहा गया है – (१) आहारदान, (२) औषधिदान, (३) ज्ञानदान और (४) अभयदान ।

अब जरा उक्त चारों शब्दों में 'दान' के स्थान पर 'त्याग' शब्द का प्रयोग करके देखें तो सारी स्थिति स्वयं स्पष्ट हो जाती है ।

क्या आहारदान और आहारत्याग एक ही चीज है ? इसी प्रकार क्या औषधिदान और औषधित्याग को एक कहा जा सकता है ?

नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि आहारदान और औषधिदान में दूसरे पात्र-जीवों को भोजन और औषधि दी जाती है, जबकि आहार-त्याग और औषधित्याग में आहार और औषधि का स्वयं सेवन करने का त्याग किया जाता है । आहारत्याग और औषधित्याग में किसी को कुछ देने का सवाल ही नहीं उठता । इसीप्रकार आहारदान

और औषधिदान में आहार और औषधि के त्यागने का (नहीं खाने का) भी प्रश्न नहीं उठता।

आहारदान दीजिए और स्वयं भी खूब खाइये, कोई रोक-टोक नहीं; पर आहार का त्याग किया तो फिर खाना-पीना नहीं चलेगा।

आहार और औषधि के सम्बन्ध में कहीं कुछ अधिक अटपटा नहीं भी लगे, किन्तु जब 'ज्ञानदान' के स्थान पर 'ज्ञानत्याग' शब्द का प्रयोग किया जाए तो बात एकदम अटपटी लगेगी। क्या ज्ञान का भी त्याग किया जाता है ? क्या ज्ञान भी त्यागने योग्य है ? क्या ज्ञान का त्याग किया भी जा सकता है ?

इसीप्रकार की बात अभयदान और अभयत्याग के बारे में समझना चाहिए।

एक बात और भी समझ लीजिये। दान में कम से कम दो पार्टी चाहिए और दोनों को जोड़ने वाला माल भी चाहिए। आहार देने वाला, आहार लेने वाला और आहार; औषधि देने वाला, औषधि लेने वाला और औषधि – इन तीनों के बिना आहारदान या औषधिदान संभव नहीं है। यदि लेने वाला नहीं तो देंगे किसे ? यदि वस्तु न हो तो देंगे क्या ? पर त्याग के लिए कुछ नहीं चाहिये। जो अपने पास नहीं है – त्याग उसका भी किया जा सकता है। जैसे 'मैं शादी नहीं करूँगा' इसमें किस वस्तु का त्याग हुआ ? शादी का। लेकिन शादी की ही कहाँ है ? जब शादी की ही नहीं तो त्याग किसका ? करने के भाव का।

इसीप्रकार सर्व परिग्रह का त्याग होता है, पर सर्व परपदार्थरूप परिग्रह है कहाँ हमारे पास ? अतः उसके ग्रहण करने के भाव का ही त्याग होता है।

त्याग के लिए हम पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। उसमें हम जिसे त्यागें, उसे लेने वाला नहीं चाहिए, वस्तु भी नहीं चाहिए।

इसप्रकार हम देखते हैं कि दान एक पराधीन क्रिया है, जबकि त्याग पूर्णतः स्वाधीन। जो क्रिया दूसरों के बिना सम्पन्न न हो सके, वह धर्म नहीं हो सकती। धर्म पर के संयोग का नाम नहीं, अपितु वियोग का है। कम से कम त्यागधर्म में तो पर के संयोग की अपेक्षा सम्भव नहीं है; त्याग शब्द ही वियोगवाची है। यद्यपि इसमें शुद्धपरिणति सम्मिलित है, परन्तु पर का संयोग बिल्कुल नहीं।

कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका त्याग होता है, दान नहीं। कुछ ऐसी हैं जिनका दान होता है, त्याग नहीं। कुछ ऐसी भी हैं जिनका दान भी होता है और त्याग भी। जैसे – राग-द्वेष, माँ-बाप, स्त्री-पुत्रादि को छोड़ा जा सकता है, उनका दान नहीं दिया जा सकता; ज्ञान और अभय का दान दिया जा सकता है, पर वे त्यागे नहीं जाते; तथा औषधि, आहार, रुपया-पैसा आदि का त्याग भी हो सकता है और दान भी दिया जा सकता है।

शास्त्रों में कहीं-कहीं त्याग और दान शब्दों का एक अर्थ में भी प्रयोग हुआ है। इस कारण भी इन दोनों के एकार्थवाची होने के भ्रम फैलने में बहुत कुछ सहायता मिली है। शास्त्रों में जहाँ इसप्रकार के प्रयोग हैं वहाँ वे इस अर्थ में हैं – निश्चयदान अर्थात् त्याग और व्यवहारत्याग अर्थात् दान। जब वे दान कहते हैं तो उसका अर्थ सिर्फ दान होता है और जब निश्चयदान कहते हैं तो उसका अर्थ त्यागधर्म होता है। इसीप्रकार जब वे त्याग कहते हैं तो उसका अर्थ त्यागधर्म होता है और जब व्यवहारत्याग कहते हैं तो उसका अर्थ दान होता है।

इसप्रकार का प्रयोग दशलक्षण पूजन में भी हुआ है। उसमें कहा है :–

उत्तम त्याग कह्यो जग सारा, औषधि शास्त्र अभय आहारा।
निश्चय राग-द्वेष निरवारे, ज्ञाता दोनों दान संभारे॥

यहाँ ऊपर की पंक्ति में जहाँ उत्तम त्यागधर्म को जगत में सारभूत बताया गया है वहीं साथ में उसके चार भेद भी गिना दिये जो कि वस्तुतः चार प्रकार के दान हैं और जिनकी विस्तार से चर्चा की जा चुकी है।

अब प्रश्न उठता है कि ये चार दान क्या त्यागधर्म के भेद हैं? पर नीचे की पंक्ति पढ़ते ही सारी बात स्पष्ट हो जाती है। नीचे की पंक्ति में साफ-साफ लिखा है कि निश्चयत्याग तो राग-द्वेष का अभाव करना है। यद्यपि ऊपर की पंक्ति में व्यवहार शब्द का प्रयोग नहीं है, तथापि नीचे की पंक्ति में निश्चय का प्रयोग होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऊपर जो बात है वह व्यवहारत्याग अर्थात् दान की है। आगे और भी स्पष्ट है कि 'ज्ञाता दोनों दान संभारे' अर्थात् ज्ञानी आत्मा निश्चय और व्यवहार दोनों को सम्भालता है। 'दोनों दान' शब्द सब कुछ स्पष्ट कर देता है।

पहली पंक्ति पढ़ते ही ऐसा लगता है कि कवि बात तो त्यागधर्म की कर रहा है और भेद दान के गिना दिए हैं। पर ऐसा नहीं कि कवि के ध्यान में यह बात न हो। क्योंकि अगली पंक्ति में ही सब कुछ स्पष्ट हो जाता है कि कवि वीतराग भावरूप त्यागधर्म को निश्चयदान या निश्चयत्याग एवं आहारादि के देने को व्यवहारदान या व्यवहारत्याग शब्द से अभिहित कर रहा है।

'धनि साधु शास्त्र अभय दिवैया, त्याग राग-विरोध को'।

पूजन की इस पंक्ति में शास्त्र और अभय के साथ 'दिवैया' शब्द का प्रयोग एवं राग-विरोध के साथ 'त्याग' शब्द का प्रयोग यह बताता है कि शास्त्र और अभय का दान होता है और राग-द्वेष का त्याग होता है। तथा 'धनि साधु' कह कर यह स्पष्ट कर दिया है कि ये साधु के धर्म हैं। आहार और औषधि को जानबूझकर छोड़ दिया गया है, क्योंकि वे साधु द्वारा देना संभव नहीं हैं।

इसीप्रकार के प्रयोग अन्यत्र भी देखे जा सकते हैं। अतः शास्त्रों के अर्थ समझने में बहुत सावधानी रखना जरूरी है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो सकता है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यदि आहारादि देने को ही त्यागधर्म मानेंगे तो फिर एक समस्या और खड़ी हो जावेगी। वह यह कि यहाँ जो उत्तमक्षमादि धर्मों का वर्णन चल रहा है, वह मुख्यतः मुनियों की अपेक्षा किया गया है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में दशधर्म की चर्चा गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र के साथ की गई है। ये सब मुनिधर्म के ही रूप हैं।

यदि आहारादि देने का नाम त्यागधर्म है तो फिर मुनिराज तो आहार लेते हैं, देते नहीं; देते तो श्रावक हैं। अतः फिर त्यागधर्म मुनिराजों की अपेक्षा श्रावकों के विशेष मानना होगा जो कि संभव नहीं है। अतः वस्तुतः तो राग-द्वेषादि विकारों के त्याग का ही नाम उत्तमत्यागधर्म है। मुनियों के अनर्गल आहारादि के त्यागरूप त्याग-धर्म तो हो सकता है, आहारादि के देने रूप नहीं।

हम त्याग का तो सही स्वरूप समझते ही नहीं, दान का भी सही स्वरूप नहीं समझते। इस अर्थप्रधान युग में पैसा ही सब कुछ हो गया है। जब भी दान की बात आवेगी, दानवीरों की चर्चा होगी, तो पैसे वालों की ओर ही देखा जावेगा। आज के दानवीर सेठों में ही

दिखाई देंगे। उन्हें ही दानवीर की उपाधियाँ दी जाती हैं। किसी आहार, औषधि या ज्ञान देने वाले को कभी 'दानवीर' बनाया गया हो तो बताएँ ? एक भी ज्ञानी पंडित या वैद्य समाज में 'दानवीर' की उपाधि से विभूषित दिखाई नहीं देता। जितने दानवीर होंगे वे सेठों में ही मिलेंगे। वणिक वर्ग इससे आगे सोच भी क्या सकता है ? इसने एक लाख दिए, उसने पाँच लाख दिए – ऐसी ही चर्चा सर्वत्र होती देखी जाती है।

पर मैं सोचता हूँ चार दानों में तो पैसादान, रुपयादान नाम का कोई दान है नहीं; उनमें तो आहार, औषधि, ज्ञान और अभय दान हैं; यह पैसादान कहाँ से आगया ?

दान निर्लोभियों की क्रिया थी, जिसे यश और पैसे के लोभियों ने विकृत कर दिया है।

'हमारी संस्था को पैसा दो तो चारों दानों का लाभ मिलेगा', ऐसी बातें करते प्रचारक आज सर्वत्र देखे जा सकते हैं। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए वे कहेंगे – "छात्रावास में लड़के रहते हैं, वे वहीं भोजन करते हैं, अतः आहारदान हो गया। उन्हें कानून या डॉक्टरी या और भी इसीप्रकार की कोई लौकिक शिक्षा देते हैं, अतः ज्ञानदान हो गया। वे बीमार हो जाते हैं तो उनका अस्पताल में इलाज कराते हैं, यह औषधिदान और अखाड़े में व्यायाम करते हैं, यह अभयदान हो गया।"

मैं पूछता हूँ क्या अपात्रों को दिया गया भोजन आहारदान है ? कहा भी है :–

मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु चारित्राभासभागिषु ।
दोषायैव भवेद्दानं पयःपानमिवाहिषु ॥

चारित्राभास को धारण करने वाले मिथ्यादृष्टियों को दान देना सर्प को दूध पिलाने के समान केवल अशुभ के लिए ही होता है।

शास्त्रों में तीन प्रकार के पात्र कहे हैं, वे सब चौथे गुणस्थान से ऊपर वाले ही होते हैं।

क्या लौकिकशिक्षा ज्ञान है या मिथ्याज्ञान ? इसीप्रकार अभक्ष्य औषधियों का देना ही औषधिदान है क्या ? जिस अभक्ष्य औषधि के सेवन में पाप माना गया है उसे देने में दान-पुण्य या त्यागधर्म कैसे होगा ?

पर उन्हें इससे क्या ? उन्हें तो पैसा चाहिए और देने वालों को भी क्या ? उनका नाम पाटिये पर लिखा जाना चाहिए। इसप्रकार देने वाले यश के लोभी और लेने वाले पैसे के लोभी — इन लोभियों ने लोभ के अभाव में होने वाले दान को भी विकृत कर दिया है।

त्यागधर्म का यह दुर्भाग्य ही समझो कि उसकी चर्चा के लिए वर्ष में महापर्व दशलक्षण के दिनों में एक दिन मिलता है, उसे यह दान खा जाता है। दान क्या खा जाता है, दान के नाम पर होने वाला चन्दा खा जाता है। यह दिन चन्दा करने में चला जाता है, त्यागधर्म के सच्चे स्वरूप की परिभाषा भी स्पष्ट नहीं हो पाती।

समाज में त्यागधर्म के सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला विद्वान् बड़ा पण्डित नहीं; बल्कि वह पेशेवर पण्डित बड़ा पण्डित माना जाता है जो अधिक से अधिक चन्दा करा सके। यह उस देश का, उस समाज का दुर्भाग्य ही समझो जिस देश व समाज में पण्डित और साधुओं के बड़प्पन का नाप ज्ञान और संयम से न होकर दान के नाम पर पैसा इकट्ठा करने की क्षमता के आधार पर होता है।

इस वृत्ति के कारण समाज और धर्म का सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि पंडितों और साधुओं का ध्यान ज्ञान और संयम से हटकर चन्दे पर केन्द्रित हो गया है। जहाँ देखो धर्म के नाम पर विशेषकर त्यागधर्म के नाम पर, दान के नाम पर, चन्दा इकट्ठा करने में ही इनकी शक्ति खर्च हो रही है, ज्ञान और ध्यान एक ओर रह गये हैं।

यही कारण है कि उत्तम त्यागधर्म के दिन हम त्याग की चर्चा न करके दान के गीत गाने लगते हैं। दान के भी कहाँ दानियों के गीत गाने लगते हैं। दानियों के गीत भी कहाँ — एक प्रकार से दानियों के नाम पर यश के लोभियों के गीत ही नहीं गाते; चापलूसी तक करने लगते हैं। यह सब बड़ा अटपटा लगता है, पर क्या किया जा सकता है — सिवाय इसके कि स्वयं बचें और त्यागधर्म का सही स्वरूप स्पष्ट करें। जिनका सद्भाग्य होगा वे समझेंगे, बाकी का जो होना होगा सो होगा।

यद्यपि चार दानों में पैसा दान नहीं है तथापि उसका भी दान हो सकता है, होता भी है। पैसे के दान को दान ही नहीं मानने की बात नहीं कही जा रही है; पर वह ही सब-कुछ नहीं है — मात्र यह स्पष्ट किया है।

दान देने वाले से लेने वाला बड़ा होता है। पर यह बात तब है जब देने वाला योग्य दातार और लेने वाला योग्य पात्र हो। मुनिराज आहारदान लेते हैं और गृहस्थ आहारदान देते हैं। मुनिराज त्यागी हैं, त्यागधर्म के धनी हैं; गृहस्थ दानी है, अतः पुण्य का भागी है। धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक बाह्याभ्यंतर परिग्रहों के त्यागी भगवान आदिनाथ हुए और उन्हें ही मुनि अवस्था में आहार देने वाले राजा श्रेयांस दानतीर्थ के प्रवर्त्तक माने गए हैं।

गृहस्थ नौ बार नमकर मुनिराज को आहार दान देता है, पर आज दान के नाम पर भीख मांगने वालों ने दातारों की चापलूसी करके उन्हें दानी से मानी बना दिया है। देने वाले का हाथ ऊंचा रहता है, आदि चापलूसी करते लोग कहीं भी देखे जा सकते हैं। आकाश के प्रदेशों में ऊँचा रहने से कोई ऊँचा नहीं हो जाता। मक्खी राजा के मस्तक पर भी बैठ जाती है तो क्या वह महाराजा हो गई? गृहस्थों से मुनिराज सदा ही ऊँचे हैं। दातार भी यह मानता है, पर इन चापलूसों को कौन समझाए?

दानी से त्यागी सदा ही महान होता है; क्योंकि त्याग धर्म है, और दान पुण्य।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि आहारदान में तो ठीक, पर ज्ञानदान में यह बात कैसे सम्भवित होगी?

इसप्रकार कि ज्ञानदान अर्थात् समझाना; समझाने का भाव भी शुभभाव होने से पुण्यबंध का कारण है। अतः समझाने वाले को पुण्य का लाभ अर्थात् पुण्य का बंध ही होता है जबकि समझने वाले को ज्ञानलाभ प्राप्त होता है। लाभ की दृष्टि से ज्ञानदान लेनेवाला फायदे में रहा।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि आप तो व्यर्थ ही पैसों का दान देने और लेने वालों की आलोचना करते हैं। यदि ऐसा न हो तो संस्थाएं चलें कैसे?

अरे भाई! हम उनकी बुराई नहीं करते। किन्तु दान का सही स्वरूप न समझने के कारण दान देकर भी जो दान का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त नहीं कर पाते – उनके हित को लक्ष्य में रखकर उसका सही स्वरूप बताते हैं, जिसे जानकर वे वास्तविक लाभ उठा सकें। रही बात संस्थाओं की सो आप उनकी बिलकुल चिन्ता न करें। यदि

जनता दान का सही स्वरूप समझ लेगी तो ये धार्मिक संस्थाय बंद नहीं होंगी, दुगुनी-चौगुनी चलेंगी। दान भी मान के लिए अभी जितना निकालते हैं, उससे दुगना-चौगुना निकलेगा। हाँ, धर्म के नाम पर धंधा करने वाली नकली संस्थाएँ अवश्य वंद हो जावेंगी। सो उन्हें तो समाप्त होना ही चाहिए।

संक्लेश परिणामों से दिया गया चन्दा दान नहीं हो सकता। दान तो उत्साहपूर्वक विशुद्धभावों से दिया जाता है। दान के फल का निरूपण करते हुए कहा गया है :-

'दान देय मन हरष विशेखे, इस भव जस परभव सुख देखे[1]।'

यहाँ दान का फल इस भव में यश एवं आगामी भव में सुख की प्राप्ति लिखा है, मोक्ष की प्राप्ति नहीं लिखा। तथा दान देने के साथ 'विशेष हर्ष' की शर्त भी लगाई गई है। उत्साहपूर्वक विशेष प्रसन्नता के साथ दिया गया दान ही फलदायी होता है, किसी के दवाव या यशादि के लोभ से दिया गया दान वांछित फल नहीं देता।

योग्य पात्र को देखकर दातार को ऐसी प्रसन्नता होनी चाहिए जैसी कि ग्राहक को देखकर दुकानदार को होती है। संक्लेश परिणामपूर्वक अनुत्साह से दिये गए दान से धर्म तो वहुत दूर, पुण्य भी नहीं होता।

विना मांगे दिया गया दान सर्वोत्कृष्ट है, मांगने पर दिया गया दान भी न देने से कुछ ठीक है। पर जोर-जवरदस्ती से अनुत्साहपूर्वक देना तो दान ही नहीं है। कहा भी है :-

विन मांगे दे दूध वरावर, मांगे दे सो पानी।
वह देना है खून वरावर, जामें खींचातानी॥

खींचातानी के वाद देने वाले को इस लोक में यश भी नहीं मिलता और पुण्य का वंध नहीं होने से परभव में सुख मिलने का भी सवाल नहीं उठता। नहीं देने पर तो अपयश होता ही है, खींचतान के वाद दे देने पर भी लोग उसकी मजाक ही उड़ाते हैं। कहते हैं भाई! तुमने पाडा दुह लिया है। हम तो समझते थे वे कुछ नहीं देंगे, पर तुम ले ही आये।

यशादि के लोभ के विना धर्मप्रभावना, तत्त्वप्रचार आदि के लिए उत्साहपूर्वक दिया गया रुपये-पैसे आदि सम्पत्ति का दान; मुनिराज आदि योग्य पात्रों को दिया गया आहारादि का दान;

---

१. कविवर द्यानतराय : सोलहकारण पूजा, जयमाला

आत्मार्थियों को दिया गया आत्महितकारी तत्त्वोपदेश एवं शास्त्रादि लिखना-लिखाना, घर-घर तक पहुँचाना आदि ज्ञानदान; शुभभावरूप होने से पुण्यबंध के कारण हैं।

ज्ञानी जीवों को अपनी शक्ति एवं भूमिकानुसार उक्त दानों को देने का भाव अवश्य आता है, वे दान देते भी खूब हैं; किन्तु उसे त्यागधर्म नहीं मानते, नहीं जानते। त्यागधर्म भी ज्ञानी श्रावकों के भूमिकानुसार अवश्य होता है और वे उसे ही वास्तविक त्यागधर्म मानते-जानते हैं।

यशादि के लोभ से दान देने वालों की आलोचना सुनकर दान नहीं देने वालों को प्रसन्न होने की आवश्यकता नहीं है। नहीं देने से तो देना अच्छा ही है, मान के लिए ही सही; उनके देने से उन्हें भले ही उसका लाभ न मिले, पर तत्त्वप्रचार आदि का कार्य तो होता ही है। यह बात अलग है कि वह वास्तविक दान नहीं है। अतः दान का सही स्वरूप समझकर हमें अपनी शक्ति और योग्यतानुसार दान तो अवश्य ही करना चाहिए।

दान देने की प्रेरणा देते हुए आचार्य पद्मनन्दी ने लिखा है :–

> सत्पात्रेषु यथाशक्ति, दानं देयं गृहस्थितैः।
> दानहीना भवेत्तेषां, निष्फलैव गृहस्थता ॥३१॥[1]

गृहस्थ श्रावकों को शक्ति के अनुसार उत्तम पात्रों के लिए दान अवश्य देना चाहिए, क्योंकि दान के बिना उनका गृहस्थाश्रम निष्फल ही होता है।

खुरचन प्राप्त होनेपर कौआ भी उसे अकेले नहीं खाता, बल्कि अन्य साथियों को बुलाकर खाता है। अतः यदि प्राप्त धन का उपयोग धार्मिक और सामाजिक कार्यों में न करके उसे अकेले अपने भोग में ही लगायेगा तो वह मानव कौए से भी गया बीता माना जायगा।

यहाँ जो बात कही जा रही है वह दान की हीनता या निषेधरूप नहीं है। किन्तु त्याग और दान में क्या अन्तर है – यह स्पष्ट किया जा रहा है।

दान की यह आवश्यक शर्त है कि जो देना है, जितना देना है, वह कम से कम उतना, देने वाले के पास अवश्य होना चाहिए; अन्यथा देगा क्या और कहाँ से देगा? पर त्याग में ऐसा नहीं है। जो वस्तु हमारे पास नहीं है, उसको भी त्यागा जा सकता है। उसे मैं प्राप्त करने का यत्न नहीं करूँगा, सहज में प्राप्त हो जाने पर भी

---

१. पद्मनंदिपंचविंशतिका : उपासकसंस्कार, श्लोक ३१

नहीं लूंगा – इसप्रकार का त्याग किया जाता है। वस्तुतः यह उस वस्तु का त्याग नहीं, उसके प्रति होने वाले या सम्भवित राग का त्याग है।

लखपति अधिक से अधिक लाख का ही दान दे सकता है, पर त्याग तो तीन लोक की सम्पत्ति का भी हो सकता है। परिग्रह-परिमाणव्रत में एक निश्चित सीमा तक परिग्रह रख कर और समस्त परिग्रह का त्याग किया जाता है। वह सीमा – अपने पास है उससे भी वड़ी हो सकती है। जैसे – जिसके पास दस हजार का परिग्रह है, वह एक लाख का भी परिग्रहपरिमाण ले सकता है। ऐसा होने पर भी वह त्यागी है; पर अपने पास रखने की कोई सीमा निर्धारित किये विना करोड़ों का भी दान दे तो भी त्यागी नहीं माना जायगा।

दान कमाई पर प्रतिवंध नहीं लगाता, आप चाहे जितना कमाओ; पर त्याग में भले ही हम कुछ न दें, कुछ न छोड़ें; पर वह कमाई को सीमित करता है, उस पर प्रतिवंध लगाता है।

दान में यह देखा जाता है कि कितना दिया, यह नहीं देखा जाता कि उसने अपने पास कितना रखा है; जबकि त्याग में यह नहीं देखा जाता कि कितना दिया है या छोड़ा है, वल्कि यह देखा जाता है कि उसने अपने पास कितना रखा या रखने का निश्चय किया है, वाकी सवका त्याग ही है। यदि त्याग में कितना छोड़ा देखा जाता होता तो फिर चक्रवर्ती पद छोड़कर मुनि वनने वाले व्यक्ति सवसे वड़े त्यागी माने जाते; किन्तु नग्नदिगम्बर भावलिंगी सन्त अपनी वीतरागपरिणतिरूप त्याग से छोटे-वड़े माने जाते हैं – इससे नहीं कि वे कितना धन, राज-पाट, स्त्री-पुत्रादि छोड़ के आये हैं। यदि ऐसा होता तो फिर भरत चक्रवर्ती वड़े त्यागी एवं भगवान महावीर छोटे त्यागी माने जाते। क्योंकि भरतादि चक्रवर्तियों ने तो छ्यानवै हजार पत्नियों और छहखण्ड की विभूति छोड़ी थी। महावीर के तो पत्नी थी ही नहीं, छहखण्ड का राज भी नहीं था, वे क्या छोड़ते? लोक में भी वालब्रह्मचारी को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

दान में इतना देकर कितना रखा – इसका विचार नहीं किया जाता; पर त्याग में कितना रखा – यह देखा जाता है, कितना छोड़ा या दिया – यह नहीं।

दान यदि देने का नाम है तो त्याग नहीं लेने को कहते हैं। देने वाले से, नहीं लेने वाला वड़ा होता है। क्योंकि देने वाला दानी है और नहीं लेने वाला त्यागी।

जिसके पास सब-कुछ होता है उसे राजा कहते हैं; और जिसके पास कुछ नहीं होता अर्थात् जो अपने पास कुछ भी नहीं रखता, जिसे कुछ भी नहीं चाहिए उसे महाराजा कहा जाता है। कहा भी है :-

चाह गई चिन्ता गई, मनुआ बे-परवाह।
जिन्हें कछु नहीं चाहिए, ते नर शाहंशाह ।।

लोक में दानियों से अधिक सन्मान त्यागियों का होता है और वह उचित भी है – क्योंकि त्याग शुद्धभाव है और दान शुभभाव; त्याग धर्म है और दान पुण्य।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि लोक में त्याग जैसे पवित्र शब्द के साथ मल-मूत्र जैसे अपवित्र शब्दों को जोड़ दिया जाता है। जैसे – मलत्याग, मूत्रत्याग। जबकि त्याग की अपेक्षा हीन – दान के साथ ज्ञान जैसा पवित्र शब्द जोड़ा गया है। जैसे – ज्ञानदान।

भाई ! कोई शब्द पवित्र या अपवित्र नहीं होता। शब्द तो वस्तु के वाचक हैं। रही वस्तु की बात, सो भाई ! त्याग तो अपवित्र वस्तु का ही किया जाता है। राग-द्वेष-मोह भाव भी तो अपवित्र हैं, उनके साथ भी त्याग शब्द लगता है। तथा दान तो अच्छी वस्तु का ही दिया जाता है।

यदि आज के सन्दर्भ में गहराई से विचार करें तो सच्चा त्याग तो लोग मल-मूत्र का ही करते हैं। क्योंकि जिस वस्तु को त्यागा फिर उसके सम्बन्ध में विकल्प भी नहीं उठना चाहिए कि उसका क्या हुआ अथवा क्या होगा ? यदि विकल्प उठे तो उसका त्याग कहाँ हुआ ? मल-मूत्र के त्याग के बाद लोगों को विकल्प भी नहीं उठता कि उसका क्या हुआ, उसे कूकर ने खाया या सूकर ने ?

इन्हीं के समान जब उन समस्त वस्तुओं के प्रति हमारा उपेक्षा भाव हो जिनका हम त्याग करना चाहते हैं या करते हैं, तभी वह सच्चा त्याग होगा।

त्याग एक ऐसा धर्म है जिसे प्राप्त कर यह आत्मा अकिंचन अर्थात् आकिंचन्यधर्म का धारी बन जाता है, पूर्ण ब्रह्म में लीन होने लगता है, हो जाता है, और सारभूत आत्मस्वभाव को प्राप्त कर लेता है।

ऐसे परम पवित्र त्यागधर्म का मर्म समझकर जन-जन समस्त बाह्याभ्यन्तर परिग्रह को त्याग कर ब्रह्मलीन हों, अनन्त सुखी हों; इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

उत्तम आकिंचन्य

ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा को छोड़कर किंचित्मात्र भी परपदार्थ तथा पर के लक्ष्य से आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष के भाव आत्मा के नहीं हैं—ऐसा जानना, मानना और ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के आश्रय से उनसे विरत होना, उन्हें छोड़ना ही उत्तम आकिंचन्यधर्म है।

आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य को दशधर्मों का सार एवं चतुर्गति दुःखों से निकालकर मुक्ति में पहुँचा देने वाला महानधर्म कहा गया है :—

> आकिंचन, ब्रह्मचर्य धर्म दश सार हैं।
> चहुँगति दुःखतें काढ़ि मुकति करतार हैं ॥[1]

वस्तुतः आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य एक सिक्के के दो पहलू हैं। ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को ही निज मानना, जानना और उसी में जम जाना, रम जाना, समा जाना, लीन हो जाना ब्रह्मचर्य है और उससे भिन्न परपदार्थों एवं उनके लक्ष्य से उत्पन्न होने वाले चिद्विकारों को अपना नहीं मानना, नहीं जानना और उनमें लीन नहीं होना ही आकिंचन्य है।

यदि स्वलीनता ब्रह्मचर्य है तो पर में एकत्वबुद्धि और लीनता का अभाव आकिंचन्य है। अतः जिसे अस्ति से ब्रह्मचर्यधर्म कहा जाता है उसे ही नास्ति से आकिंचन्यधर्म कहा गया है। इसप्रकार स्व-अस्ति ब्रह्मचर्य है और पर की नास्ति आकिंचन्य।

ब्रह्मचर्यधर्म की चर्चा तो स्वतन्त्र रूप से होगी ही, यहाँ तो अभी आकिंचन्यधर्म के सम्बन्ध में विचार अपेक्षित है।

जिसप्रकार क्षमा का विरोधी क्रोध, मार्दव का विरोधी मान है; उसीप्रकार आकिंचन्यधर्म का विरोधी परिग्रह है अर्थात् आकिंचन्य के अभाव को परिग्रह अथवा परिग्रह के अभाव को आकिंचन्यधर्म कहा जाता है। अतः आकिंचन्य का दूसरा नाम अपरिग्रह भी हो सकता है।

---

[1] दशलक्षण पूजन, स्थापना

जिस परिग्रह के त्याग से आकिंचन्यधर्म प्रकट होता है, पहले उसे समझना आवश्यक है।

परिग्रह दो प्रकार का होता है – आभ्यन्तर और बाह्य।

आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेषादिभावरूप आभ्यन्तर परिग्रह को निश्चयपरिग्रह और बाह्य परिग्रह को व्यवहारपरिग्रह भी कहा जाता है। जैसा कि 'धवल' में कहा है :–

"ववहारणयं पडुच्च खेत्तादी गंथो, अब्भंतरगंथकारणत्तादो। एदस्स परिहरणं णिग्गंथत्तं। णिच्छयणयं पडुच्च मिच्छत्तादी गंथो, कम्मबंधकारणत्तादो। तेसिं परिच्चागो णिग्गंथत्तं।"[1]

व्यवहारनय की अपेक्षा से क्षेत्रादिक ग्रंथ हैं, क्योंकि वे आभ्यंतर-ग्रंथ के कारण हैं, इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। निश्चयनय की अपेक्षा से मिथ्यात्वादि ग्रंथ हैं, क्योंकि वे कर्मबंध के कारण हैं और उनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है।

इसप्रकार निर्ग्रन्थता अर्थात् आकिंचन्यधर्म के लिये आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के परिग्रह का अभाव (त्याग) आवश्यक है। यही निश्चय-व्यवहार की संधि भी है।

आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार के होते हैं :–

१. मिथ्यात्व, २. क्रोध, ३. मान, ४. माया, ५. लोभ, ६. हास्य, ७. रति, ८. अरति, ९. शोक, १०. भय, ११. जुगुप्सा (ग्लानि), १२. स्त्रीवेद, १३. पुरुषवेद और १४. नपुंसकवेद।

बाह्य परिग्रह दश प्रकार के होते हैं :–

१. क्षेत्र (खेत), २. मकान, ३. चांदी, ४. सोना, ५. धन, ६. धान्य, ७. दासी, ८. दास, ९. वस्त्र और १०. बर्तन।

इसप्रकार परिग्रह कुल चौबीस प्रकार के माने गये हैं। कहा भी है :–

'परिग्रह चौबीस भेद, त्याग करें मुनिराज जी।'[2]

उक्त चौबीस प्रकार के परिग्रह के त्यागी मुनिराज उत्तम आकिंचन्यधर्म के धारी होते हैं।

---

[1] धवला पुस्तक ९, खण्ड ४, भाग १, सूत्र ६७, पृष्ठ ३२३

[2] दशलक्षण पूजन, उत्तम आकिंचन्य का छन्द

जब भी परिग्रह या परिग्रहत्याग की चर्चा चलती है – हमारा ध्यान बाह्य परिग्रह की ओर ही जाता है; मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभादि भी परिग्रह हैं – इस ओर कोई ध्यान ही नहीं देता। क्रोध, मान, माया, लोभ की जब भी बात आयेगी तो कहा जायेगा कि ये तो कषायें हैं; पर कषायों का भी परिग्रह होता है, यह विचार नहीं आता।

जब जगत क्रोध-मानादि को भी परिग्रह मानने को तैयार नहीं तो फिर हास्यादि कषायों को कौन परिग्रह माने ?

पाँच पापों में परिग्रह एक पाप है और हास्यादि कषायें परिग्रह के भेद हैं। पर जब हम हँसते हैं, शोकसंतप्त होते हैं, तो क्या यह समझते हैं कि हम कोई पाप कर रहे हैं या इनके कारण हम परिग्रही हैं ?

बहुत से परिग्रह-त्यागियों को कहीं भी खिलखिलाकर हँसते, हड़बड़ाकर डरते देखा जा सकता है। क्या वे यह अनुभव करते हैं कि यह सब परिग्रह है ?

जयपुर में लोग भगवान की मूर्तियाँ लेने आते हैं और मुझसे कहते हैं कि हमें तो बहुत सुन्दर मूर्ति चाहिए, एकदम हँसमुख। मैं उन्हें समझाता हूँ कि भाई ! भगवान की मूर्ति हँसमुख नहीं होती। हास्य तो कषाय है, परिग्रह है और भगवान तो अकषायी, अपरिग्रही हैं; उनकी मूर्ति हँसमुख कैसे हो सकती है ? भगवान की मूर्ति की मुद्रा तो वीतरागी शान्त होती है। कहा भी है :–

'जय परमशान्त मुद्रा समेत, भविजन को निज अनुभूति हेत'।[1]

'छवि वीतरागी नग्न मुद्रा, दृष्टि नाशा पर धरैं'।[2]

यह भी बहुत कम लोग जानते हैं कि सब पापों का बाप लोभ भी एक परिग्रह है। शब्दों में जानते भी हों तो यह अनुभव नहीं करते कि लोभ भी एक परिग्रह है, अन्यथा यश के लोभ में दौड़-धूप करते तथाकथित परिग्रह-त्यागी दिखाई नहीं देते।

घोर पापों की जड़ मिथ्यात्व भी एक परिग्रह है; एक नहीं, नम्बर एक का परिग्रह है – जिसके छूटे बिना अन्य परिग्रह छूट ही नहीं सकते – इस ओर भी कितनों का ध्यान है ? होता तो

---

[1] पं० दौलतरामजी कृत देव-स्तुति

[2] कविवर बुधजनकृत देव-स्तुति

मिथ्यात्व का अभाव किये विना ही अपरिग्रही बनने के यत्न नहीं किये जाते ।

परिग्रह सबसे बड़ा पाप है और आकिंचन्य सबसे बड़ा धर्म। जगत में जितनी भी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं – उन सबके मूल में परिग्रह है। जब मोह-राग-द्वेष आदि सभी विकारी भाव परिग्रह हैं तो फिर कौन सा पाप बच जाता है जो परिग्रह की सीमा में न आ जाता हो ।

मोह-राग-द्वेष भावों की उत्पत्ति का नाम ही हिंसा है। कहा भी है :–

> अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
> तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥[1]

राग-द्वेष-मोह आदि विकारी भावों की उत्पत्ति ही हिंसा है और उन भावों का उत्पन्न नहीं होना ही अहिंसा है ।

झूठ, चोरी, कुशील में भी राग-द्वेष-मोह ही काम करते हैं। अतः राग-द्वेष-मोहमय होने से परिग्रह सबसे बड़ा पाप है ।

क्षमा तो क्रोध के अभाव का नाम है। इसीप्रकार मार्दव मान के, आर्जव माया के तथा शौच लोभ के अभाव का नाम है। पर आकिंचन्यधर्म – क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद सभी कषायों के अभाव का नाम है। अतः आकिंचन्य सबसे बड़ा धर्म है ।

आज तो बाह्य परिग्रह में भी मात्र रुपये-पैसे को ही परिग्रह माना जाता है; धन-धान्यादि की ओर किसी का ध्यान भी नहीं जाता। किसी भी परिग्रह-परिमाणधारी अणुव्रती से पूछिये कि आपका परिग्रह का परिमाण क्या है ? तो तत्काल रुपयों-पैसों में उत्तर देंगे। कहेंगे कि – "दश हजार या बीस हजार ।" "और....?" यह पूछेंगे तो कहेंगे – "और क्या ?"

मैं जानना चाहता हूँ कि क्या रुपया-पैसा ही परिग्रह है और कोई परिग्रह नहीं ? धन-धान्य, क्षेत्र-वास्तु, स्त्री-पुत्रादि बाह्य परिग्रहों की भी बात नहीं, तो क्रोध-मानादि अंतरंग परिग्रहों की कौन पूछता है ?

---

[1] आचार्य अमृतचन्द्र : पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द ४४

जब एक परिग्रह-परिमाणधारी से पूछा गया कि परिग्रह तो चौवीस होते हैं, आपने तो चौवीसों ही का परिमाण किया होगा ? तब वे आश्चर्यचकित से बोले – "नहीं, हमने तो सिर्फ रुपयों का ही परिमाण किया है, आप बताओ तो चौवीस का कर लेंगे ।"

मैंने कहा – "सो तो ठीक है, पर आपने कभी विचार भी किया है कि चौवीस परिग्रहों का परिमाण हो भी सकता है या नहीं ?"

तब वे तत्काल कहने लगे – "क्यों नहीं हो सकता, सब हो सकता है, दुनियाँ में ऐसा कौनसा काम है जो आदमी से न हो सके ? आदमी चाहे तो सब कुछ कर सकता है ।"

मैंने कहा – "ठीक, आपको चौवीस परिग्रहों के नाम तो आते ही होंगे ? पहला परिग्रह 'मिथ्यात्व' है, उसका परिमाण हो सकता है क्या ? यदि 'हाँ' तो फिर कितना मिथ्यात्व रखना और कितना छोड़ना ? क्या मिथ्यात्व भी कुछ रखा और कुछ छोड़ा जा सकता है ?"

वे भौंचक्के-से देखते रहे; क्योंकि मिथ्यात्व भी एक परिग्रह है, यह उन्होंने आज ही सुना था ।

अस्तु ! मैंने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा –

"भाई ! मिथ्यात्व के पूर्णतः छूटे बिना तो व्रत होते ही नहीं, अतः परिग्रह-परिमाणव्रत लेने वाले के मिथ्यात्व है ही कहाँ जो उसका परिमाण किया जाय ।

इसीप्रकार क्रोध, मान, माया, लोभादि विकारी भावरूप अंतरंग परिग्रहों का भी परिमाण कैसे और कितना किया जाय – इसका भी विचार किया कभी ?"

चौथे गुणस्थान की अपेक्षा पंचम गुणस्थान में आत्मा का अधिक व उग्र आश्रय होने से अनन्तानुबंधी एवं अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि का अभाव हो जाता है तथा किंचित् कमजोरी के कारण प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन क्रोधादि का सद्भाव बना रहता है, तदनुसार धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह की सीमा बुद्धिपूर्वक की जाती है ।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का नाम ही परिग्रह-परिमाणव्रत है ।

जन-सामान्य को इन चौवीस परिग्रहों की तो खबर नहीं, रुपये-पैसे को ही अपनी कल्पना से परिग्रह मानकर उसकी ही उल्टी-सीधी मर्यादा करके अपने को परिग्रह-परिमाणव्रती मान लेते हैं ।

जिन रुपयों-पैसों को जगत परिग्रह माने बैठा है, वह अंतरंग परिग्रह तो है ही नहीं, पर धन-धान्यादि बाह्य परिग्रहों में भी उसका नाम नहीं है। वह तो बाह्य परिग्रहों के विनिमय का कृत्रिम साधन मात्र है। उसमें स्वयं कुछ भी ऐसा नहीं, जिसके लोभ से जगत उसका संग्रह करे। यदि उसके माध्यम से धन-धान्यादि भोग-सामग्री प्राप्त न हो तो उसे कौन समेटे ? दश हजार का नोट अब बाजार में नहीं चलता तो अब उसे कौन चाहता है ? जगत की दृष्टि में उसकी कीमत तभी तक है जब तक वह धन-धान्यादि बाह्यपरिग्रहों की प्राप्ति का साधन है। साधन में साध्य का उपचार करके ही वह परिग्रह कहा जा सकता है, पर चौबीस परिग्रहों में नाम तक न होने पर भी आज यह पच्चीसवाँ परिग्रह ही सब कुछ बना हुआ है।

रुपये-पैसे को बाह्य परिग्रह में भी स्थान न देने का एक कारण यह भी रहा कि उसकी कीमत घटती-बढ़ती रहती है। रुपये-पैसे का जीवन में डायरेक्ट तो कोई उपयोग है नहीं, वह धन-धान्यादि जीवनोपयोगी वस्तुओं की प्राप्ति का साधन मात्र है। अणुव्रतों में परिग्रह का परिमाण जीवनोपयोगी वस्तुओं का ही किया जाता है। रुपये-पैसों की कीमत घटती-बढ़ती रहने से मात्र उसका परिमाण किये जाने पर परेशानी हो सकती है।

मान लीजिये एक व्यक्ति ने दश हजार का परिग्रह परिमाण किया। जब उसने यह परिमाण किया था तब उसके मकान की कीमत पाँच हजार रुपये थी, कालान्तर में उसी मकान की कीमत पचास हजार रुपये भी हो सकती है। इसीप्रकार धन-धान्यादि की भी स्थिति समझना चाहिए। अतः परिग्रह-परिमाणव्रत में धन-धान्यादि नित्योपयोगी वस्तुओं के परिमाण करने को कहा गया।

परिग्रह-परिमाणधारी को तो जीवनोपयोगी परिमित वस्तुओं की आवश्यकता है, चाहे उनकी कीमत कुछ भी क्यों न हो। परिग्रह परिमाणधारी घर में ही रहता है, अतः उसे सब चाहिए – धन-धान्य, क्षेत्र-मकान, बर्तनादि। पर आज की स्थिति बदल गई है, क्योंकि कोई भी परिग्रह-परिमाणधारी घर में नहीं रहना चाहता। वह अपने को गृहस्थ नहीं, साधु समझता है; जबकि अणुव्रत गृहस्थों के होते हैं, साधुओं के नहीं। उसे बनाकर ही नहीं, कमाकर खाना चाहिए; पर वह कमा कर खाना तो बहुत दूर, बनाकर भी नहीं खाना चाहता है। वह अपने घर में नहीं, धर्मशालाओं में रहता है और अपना सारा

भार समाज पर डालता है। अतः न उसे अब मकान की आवश्यकता रही है, और न धन-धान्यादि की। यही कारण है कि वह परिग्रह का परिमाण भी रुपये-पैसों में करने लगा है।

बड़ी विचित्र स्थिति हो गई है। एक अणुव्रती ने मुझसे कहा – "मैं आपसे अपनी एक शंका का समाधान एकान्त में करना चाहता हूँ।"

जब मैंने कहा – "तत्त्वचर्चा में एकान्त की क्या आवश्यकता है?"

तब वे बोले – "कुछ व्यक्तिगत बात है।"

एकान्त में बोले – "मेरी एक समस्या है, उसका समाधान आपसे चाहता हूँ। बात यह है कि मैंने पाँच हजार का परिग्रह-परिमाणव्रत लिया था। जब परिमाण किया था तब मेरे पास इतने भी पैसे नहीं थे और न प्राप्त होने की सम्भावना ही थी, पर बाद में पैसे प्राप्त हुए और ब्याज बढ़ता गया। खर्चा तो कुछ था नहीं, लगभग दश हजार हो गए। मैं बहुत परेशानी में था, अतः मैंने अपने एक साथी व्रतीब्रह्मचारी से चर्चा की तो उन्होंने कहा कि तुम कुछ समझते तो हो नहीं। इसमें क्या है, जब तुमने व्रत लिया था तब से अब रुपये की कीमत आधी रह गई है। अतः दश हजार रखना कोई अनुचित नहीं है।

उनकी बात मेरी रुचि के अनुकूल होने से मैंने स्वीकार कर ली। पर अब रुपये और बढ़ रहे हैं, बारह-तेरह तक पहुँच गये हैं। अब क्या करूँ, मेरी समझ में नहीं आता। यद्यपि उक्त तर्क के आधार पर मैंने मर्यादा बढ़ा ली थी, अब भी बढ़ा सकता हूँ; पर मेरा हृदय न मालूम क्यों इस बात को स्वीकार नहीं कर पा रहा है।"

उनकी बात का तत्काल तो मैं कुछ विशेष उत्तर न दे सका पर उक्त प्रश्न ने मेरे हृदय को झकझोर डाला। मैंने उक्त बात पर गम्भीरता से चिन्तन किया। विचार करते-करते मुझे यह बिन्दु हाथ लगा कि आखिर आगम में रुपये-पैसों को परिग्रह में क्यों नहीं गिनाया?

समझ में नहीं आता, धार्मिक समाज को आज क्या हो गया है? परिग्रह के पूर्णतः त्यागी महाव्रती साधु और परिग्रह-परिमाणव्रती अणुव्रती गृहवासी गृहस्थ – दोनों ही मठवासी, मन्दिरवासी, धर्मशाला-वासी हो गए हैं। एक को वन में रहना चाहिए, दूसरे को घर में; पर न वनवासी वन में रहते हैं और न गृहवासी गृह में; और एक साथ धर्मशालावासी हो गए हैं। आहार देने वाले अणुव्रती गृहस्थ भी

आज आहार लेने लगे हैं। अन्यथा जिन्होंने अपनी कमाई के साधन सीमित कर लिए, उनके भी सम्पत्ति बढ़ते जाने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

व्रतियों को महाव्रतियों का भार उठाना था, पर उन्होंने तो अपना भार अव्रतियों पर डाल दिया है। यही कारण है कि महाव्रतियों को अनुदिष्ट आहार मिलना बन्द हो गया है। क्योंकि अव्रती तो उतना शुद्ध भोजन करते ही नहीं कि ये मुनिराज के उद्देश्य के बिना बनाके उन्हें दे सकें। व्रती अवश्य ऐसा भोजन करते हैं कि वे अपने लिए बनाए गए भोजन को मुनिराजों को दे सकते हैं, पर वे तो लेने वाले हो गए।

जो कुछ भी हो, प्रकृत में तो मात्र यह विचारना है कि रुपये-पैसों को आगम में चौबीस परिग्रहों में पृथक् स्थान क्यों नहीं दिया ? वैसे वह धन में आ ही जाता है।

यदि रुपये-पैसे को ही परिग्रह मानें तो फिर देवों, नारकियों और तिर्यंचों में तो परिग्रह होगा ही नहीं, क्योंकि उनके पास तो रुपया-पैसा देखने में ही नहीं आता। उनमें तो मुद्रा का व्यवहार ही नहीं है, उन्हें इस व्यवहार का कोई प्रयोजन भी नहीं है; पर उनके परिग्रह का त्याग तो नहीं है।

इसीप्रकार धन-धान्यादि बाह्य परिग्रहों को ही परिग्रह मानें तो फिर पशुओं को अपरिग्रही मानना होगा, क्योंकि उनके पास बाह्य परिग्रह देखने में नहीं आता। धन-धान्य, मकानादि संग्रह का व्यवहार तो मुख्यतः मनुष्य व्यवहार है। मनुष्यों में भी पुण्य का योग न होने पर धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह कम देखा जाता है तो क्या वे परिग्रह-त्यागी हो गये ? नहीं, कदापि नहीं।

जब आत्मा के धर्म और अधर्म की चर्चा चलती है तो उनकी परिभाषायें ऐसी होनी चाहिये कि वे सभी आत्माओं पर समान रूप से घटित हों। यही कारण है कि आचार्यों ने अंतरंग परिग्रह के त्याग पर विशेष बल दिया है।

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा है :—

> बाहिरगंथविहीणा दलिद्दमणुवा सहावदो होंति।
> अब्भंतर-गंथं पुण ण सक्कदे को वि छंडेदुं ॥३८७॥

बाह्य परिग्रह से रहित दरिद्री मनुष्य तो स्वभाव से ही होते हैं, किन्तु अंतरंग परिग्रह को छोड़ने में कोई भी समर्थ नहीं होता।

'अष्टपाहुड़ (भावपाहुड़)' में सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं :–

> भावविशुद्धिणिमित्तं वाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
> वाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स ।।३।।

वाह्य परिग्रह का त्याग भावों की विशुद्धि के लिए किया जाता है, परन्तु रागादिभावरूप अभ्यन्तर परिग्रह के त्याग विना वाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है ।

वाह्य परिग्रह त्याग देने पर भी यह आवश्यक नहीं कि अन्तरंग परिग्रह भी छूट ही जायेगा । यह भी हो सकता है कि वाह्य में तिल-तुषमात्र भी परिग्रह न दिखाई दे, परन्तु अंतरंग में चौदहों परिग्रह विद्यमान हों । द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनियों के यही तो होता है । प्रथम गुणस्थान में होने से उनमें मिथ्यात्वादि सभी अंतरंग परिग्रह पाये जाते हैं, पर वाह्य में वे नग्न दिगम्बर होते हैं ।

'भगवती आराधना' में स्पष्ट लिखा है :–

> अब्भंतरसोधीए गंथे णियमेण वाहिरे च यदि ।
> अब्भंतरमइलो चेव वाहिरे गेण्हदि हु गंथे ।।१९१५।।
> अब्भंतरसोधीए वाहिरसोधी वि होदि णियमेण ।
> अब्भंतरदोसेण हु कुणदि, णरो वाहिरे दोसे ।।१९१६।।

अंतरंग शुद्धि होनेपर वाह्य परिग्रह का नियम से त्याग होता है । अभ्यन्तर अशुद्ध परिणामों से ही वचन और शरीर से दोषों की उत्पत्ति होती है । अंतरंग शुद्धि होने से वहिरंग शुद्धि भी नियम से होती है । यदि अंतरंग परिणाम मलिन होंगे तो मनुष्य शरीर और वचनों से भी दोष उत्पन्न करेगा ।

वस्तुतः वात तो यह है कि धन-धान्यादि स्वयं में कोई परिग्रह नहीं हैं; वल्कि उनके ग्रहण का भाव, संग्रह का भाव – परिग्रह है । जव तक परपदार्थों के ग्रहण या संग्रह का भाव न हो तो मात्र परपदार्थों की उपस्थिति से परिग्रह नहीं होता; अन्यथा तीर्थंकरों के तेरहवें गुणस्थान में होनेपर भी देह व समोशरणादि विभूतियों का परिग्रह मानना होगा, जवकि अंतरंग परिग्रहों का सद्भाव दशवें गुणस्थान तक ही होता है ।

सभी वातों का ध्यान रखते हुए जिनागम में परिग्रह की परिभाषा इसप्रकार दी गई है :–

"मूर्च्छा परिग्रहः"[१]

मूर्च्छा परिग्रह है।

मूर्च्छा की परिभाषा आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार करते हैं :–

"मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः"[२]

ममत्व परिणाम ही मूर्च्छा है।

प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में (गाथा २७८ की टीका में) आचार्य जयसेन ने लिखा है :–

"मूर्च्छा परिग्रहः" इति सूत्रे यथाध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूप-रागादिपरिणामानुसारेण परिग्रहो भवति, न च बहिरंगपरिग्रहानु-सारेण।"

मूर्च्छा परिग्रह है – इस सूत्र में यह कहा गया है कि अंतरंग इच्छारूप रागादि परिणामों के अनुसार परिग्रह होता है, बहिरंग परिग्रह के अनुसार नहीं।

आचार्य पूज्यपाद तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि में लिखते हैं :–

"ममेदंबुद्धिलक्षणः परिग्रहः"[३]

यह वस्तु मेरी है – इसप्रकार का संकल्प रखना परिग्रह है।

परिग्रह की उपर्युक्त परिभाषा और स्पष्टीकरणों से परपदार्थ स्वयं में कोई परिग्रह नहीं है – यह स्पष्ट हो जाता है। परपदार्थों के प्रति जो हमारा ममत्व है, राग है – वास्तव में तो वही परिग्रह है। जब परपदार्थों के प्रति ममत्व छूटता है तो तदनुसार बाह्य परिग्रह भी नियम से छूटता ही है। किन्तु बाह्य परिग्रह के छूटने से ममत्व के छूटने का नियम नहीं है – क्योंकि पुण्य के अभाव और पाप के उदय में परपदार्थ तो अपने आप ही छूट जाते हैं, पर ममत्व नहीं छूटता; बल्कि कभी-कभी तो और अधिक बढ़ने लगता है।

परपदार्थ के छूटने से कोई अपरिग्रही नहीं होता; बल्कि उनके रखने का भाव, उसके प्रति एकत्वबुद्धि या ममत्व परिणाम छोड़ने से परिग्रह छूटता है – आत्मा अपरिग्रही अर्थात् आकिंचन्यधर्म का धनी बनता है।

---

[१] आचार्य उमास्वामी: तत्त्वार्थसूत्र अ० ७, सू० १७

[२] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द १११

[३] सर्वार्थसिद्धि, अ० ६, सू० १५

शरीरादि परपदार्थों और रागादि चिद्विकारों में एकत्वबुद्धि, अहंबुद्धि ही मिथ्यात्व नामक प्रथम अंतरंग परिग्रह है। जब तक यह नहीं छूटता तब तक अन्य परिग्रहों के छूटने का प्रश्न ही नहीं उठता। पर इस मुग्ध जगत का इस ओर ध्यान ही नहीं है।

सारी दुनियाँ परिग्रह की चिन्ता में ही दिन-रात एक कर रही है, मर रही है। कुछ लोग परपदार्थों के जोड़ने में मग्न हैं, तो कुछ लोगों को धर्म के नाम पर उन्हें छोड़ने की धुन सवार है। यह कोई नहीं सोचता कि वे मेरे हैं ही नहीं, मेरे जोड़ने से जुड़ते नहीं और ऊपर-ऊपर से छोड़ने से छूटते भी नहीं। उनकी परिणति उनके अनुसार हो रही है, उसमें हमारे किए कुछ नहीं होता। यह आत्मा तो मात्र उन्हें जोड़ने या छोड़ने के विकल्प करता है, तदनुसार पाप-पुण्य का बंध भी करता रहता है।

पुण्य के उदय में अनुकूल परपदार्थों का बिना मिलाये भी सहज संयोग होता है। इसीप्रकार पाप के उदय में प्रतिकूल परपदार्थों का संयोग होता रहता है। यद्यपि इसमें इसका कुछ भी वश नहीं चलता तथापि मिथ्यात्व और राग के कारण यह अज्ञानी जगत अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों-वियोगों में अहंबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि किया करता है। यही अहंबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि मिथ्यात्व नामक सबसे खतरनाक परिग्रह है। सबसे पहिले इसे छोड़ना जरूरी है।

जिसप्रकार वृक्ष के पत्तों के सींचने से पत्ते नहीं पनपते, वरन् जड़ को सींचने से पत्ते पनपते हैं; उसीप्रकार समस्त अंतरंग-बहिरंग परिग्रह मिथ्यात्वरूपी जड़ से पनपते हैं। यदि हम चाहते हैं कि पत्ते सूख जावें तो पत्तों को तोड़ने से कुछ नहीं होगा, नवीन पत्ते निकल आवेंगे; पर यदि जड़ ही काट दी जावे तो फिर समय पाकर पत्ते आपों-आप सूख जायेंगे। उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी जड़ को काट देने पर बाकी के परिग्रह समय पाकर स्वतः छूटने लगेंगे।

जब यह बात कही जाती है तो लोग कहते हैं कि बस पर को अपना मानना नहीं है, छोड़ना तो कुछ है नहीं। यदि कुछ छोड़ना नहीं है तो फिर परिग्रह छूटेगा कैसे?

अरे भाई! छोड़ना क्यों नहीं है? पर को अपना मानना छोड़ना है। जब पर को अपना मानना ही मिथ्यात्व नामक प्रथम परिग्रह है, तो उसे छोड़ने के लिए पर को अपना मानना ही छोड़ना होगा।

यद्यपि मानना छोड़ना (मत परिवर्तन) बहुत बड़ा त्याग है, काम है; तथापि इस जगत को इसमें कुछ छोड़ा – ऐसा लगता ही नहीं है । यदि दश-पाँच लाख रुपये छोड़े, स्त्री-पुत्रादि को छोड़े, तो कुछ छोड़ा-सा लगता है । पर इन्हीं रुपयों को, स्त्री-पुत्रादि को अपना मानना छोड़े तो कुछ छोड़ा-सा नहीं लगता । यह सब मिथ्यात्व नामक परिग्रह की ही महिमा है । उसी के कारण जगत को ऐसा लगता है ।

अरे भाई ! यदि पर को अपना मानना छोड़े बिना उसे छोड़ भी दे, तो वह छूटेगा नहीं । पर को छोड़ने के लिए अथवा पर से छूटने के लिए सर्वप्रथम उसे अपना मानना छोड़ना होगा, तभी कालान्तर में वह छूटेगा । वह छूटेगा क्या, वह तो छूटा हुआ ही है । वस्तुतः यह जीव बलात् उसे अपना मान रहा है । अतः गहराई से विचार करें तो उसे अपना मानना ही छोड़ना है ।

जगत के पदार्थ तो जगत में रहते हैं और रहेंगे – उन्हें क्या छोड़ें और कैसे छोड़ें ? उन्हें अपना मानना और ममत्व करना ही तो छोड़ना है ।

देह को अपना मानना छोड़ने से, ममत्व छोड़ने से, उससे राग छूट जाने पर भी तत्काल देह छूट नहीं जाती; देह का परिग्रह छूट जाता है । देह तो समय पर अपने-आप छूटती है; पर देह में एकत्व और रागादि-त्यागी को फिर दुबारा देह धारण नहीं करनी पड़ती और जो लोग इससे एकत्व और राग नहीं छोड़ते हैं, उन्हें बार-बार देह धारण करनी पड़ती है ।

यहाँ कोई कहे कि जिसप्रकार देह को नहीं, देह को अपना मानना छोड़ना है, देह से राग छोड़ना है, देह तो समय पर अपने-आप छूट जावेगी; उसीप्रकार हम मकान तो दश-दश रखें, पर उनसे ममत्व नहीं रखें, तो क्या मकान का परिग्रह नहीं होगा ? यदि हाँ, तो फिर हम मकान तो खूब रखेंगे, बस उनसे ममत्व नहीं रखेंगे ।

उनसे कहते हैं कि भाई जरा विचार तो करो ! यदि तुम मकान से ममत्व नहीं रखोगे तो मिथ्यात्व नामक अंतरंग परिग्रह छूटेगा, मकान (वास्तु) नामक बहिरंग परिग्रह नहीं । क्योंकि मकानादिरूप बाह्य परिग्रह तो प्रत्याख्यान सम्बन्धी राग (लोभादि) रूप अंतरंग परिग्रह के छूटने पर छूटता है एवं अप्रत्याख्यान सम्बन्धी राग (लोभादि) रूप अंतरंग परिग्रह छूटने पर मकानादि बाह्य परिग्रह

परिमित होते हैं। इसप्रकार उसे अपना मानना छोड़ने मात्र से वाह्य परिग्रह नहीं छूटता, अपितु तत्सम्वन्धी राग छूटने से छूटता है।

देह और मकान की स्थिति में अन्तर है। देह से तो राग छूट जाने पर भी देह नहीं छूटती, पर मकान से राग छूट जाने पर मकान अवश्य ही छूट जाता है। पूर्ण वीतरागीसर्वज्ञ भी तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में सदेह होते हैं, पर मकानादि वाह्य पदार्थों का संयोग छठवें-सातवें गुणस्थान में भी नहीं होता।

जैनदर्शन का अपरिग्रह सिद्धान्त समझने के लिए गहराई में जाना होगा। ऊपर-ऊपर से विचार करने से काम नहीं चलेगा।

निश्चय से तो मकानादि छूटे ही हैं। अज्ञानी जीव ने उन्हें अपना मान रखा है, वे उसके हुए ही कव हैं ? यह अज्ञानी जीव अपने अज्ञान के कारण स्वयं को उनका स्वामी मानता है, पर उन्होंने इसके स्वामित्व को स्वीकार ही कहाँ किया ? उन्होंने इसे अपना स्वामी कव माना ?

यह जीव वड़े अभिमान से कहता है कि मैंने यह मकान पच्चीस हजार में निकाल दिया। पर विचार तो करो कि इसने मकान को निकाला है या मकान ने इसे ? मकान तो अभी भी अपने स्थान पर ही खड़ा है। स्थान तो इसी ने वदला है।

मकानादि परपदार्थों को अपना मानना मिथ्यात्व नामक अंतरंग परिग्रह है, और उनसे रागद्वेषादि करना—क्रोधादिरूप अन्तरंग परिग्रह हैं; मकानादि वहिरंग परिग्रह हैं। परपदार्थों को मात्र अपना मानना छोड़ने से वहिरंग परिग्रह नहीं छूटता, अपितु उन्हें अपना मानने के साथ उनसे रागादि छोड़ने से छूटता है।

पर इसी परिग्रही वणिक समाज ने अपरिग्रही जिनधर्म में भी रास्ते निकाल लिए हैं। जिसप्रकार समस्त धन का मालिक एवं नियामक स्वयं होने पर भी राज्य के नियमों से वचने के लिए आज इसके द्वारा अनेक रास्ते निकाल लिए गए हैं—दूसरे व्यक्ति के नाम सम्पत्ति वताना, नकली संस्थाएँ खड़ी कर लेना आदि। उसीप्रकार धर्मक्षेत्र में भी यह सव दिखाई दे रहा है—शरीर पर तन्तु भी न रखने वाले नग्न दिगम्वरों को जव अनेक संस्थाओं, मन्दिरों, मठों, वसों आदिका रुचिपूर्वक सक्रिय संचालन करते देखते हैं तो शर्म से माथा झुक जाता है।

जब साक्षात् देखते हैं कि उनकी मर्जी के बिना वस्त्र एक कदम भी नहीं चल सकती तब कैसे समझ में आवे कि इससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। लौट-फिर कर बात वहीं आ जाती है कि अन्तरंग परिग्रह त्यागे बिना यदि बाह्य परिग्रह छोड़ा जाएगा तो यही सब कुछ होगा, क्योंकि अन्तरंग परिग्रह के त्याग के बिना बहिरंग परिग्रह का भी वास्तविक त्याग नहीं हो सकता। फिर भी शास्त्रों में नववें ग्रैवेयक तक जाने वाले जिन द्रव्यलिंगी-मिथ्यादृष्टि मुनिराजों की चर्चा है, उनके तो तिल-तुषमात्र बाह्य परिग्रह और उससे लगाव देखने में नहीं आता। अन्तर्दृष्टि बिना उनके द्रव्यलिंगत्व का पता लगाना असंभव-सा ही है।

मिथ्यात्वादि अन्तरंग परिग्रह के त्याग पर बल देने का आशय यह नहीं है कि बहिरंग परिग्रह के त्याग की कोई आवश्यकता नहीं है या उसका कोई महत्त्व नहीं है। अन्तरंग परिग्रह के त्याग के साथ-साथ बहिरंग परिग्रह का त्याग भी नियम से होता है, उसकी भी अपनी उपयोगिता है, महत्त्व भी है; पर यह जगत बाह्य में ही इतना उलझा रहता है कि उसे अन्तरंग की कोई खबर ही नहीं रहती। इस कारण यहाँ अन्तरंग परिग्रह की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया गया है।

जिसके भूमिकानुसार बाह्य परिग्रह का त्याग नहीं है, उसके अन्तरंग परिग्रह के त्याग की बात भी कोरी कल्पना है। यदि कोई कहे कि हमने तो अन्तरंग परिग्रह का त्याग कर दिया है, अब बहिरंग बना रहे तो क्या ? तो उसका यह कहना एक प्रकार से छल है, क्योंकि अन्तरंग में राग के त्याग होने पर तदनुसार बाह्य परिग्रह के संयोग का त्याग भी अनिवार्य है। यह नहीं हो सकता कि अन्तरंग में मिथ्यात्व; अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान एवं प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ का अभाव हो जावे और बाहर में नग्न दिगम्बर दशा न हो। उक्त अन्तरंग परिग्रहों के अभाव में बाह्य में सर्व परिग्रह के त्यागरूप नग्न दिगम्बर दशा होगी ही।

आकिंचन्यधर्म का धारी अकिंचन्य बनने के लिए सबसे प्रथम आकिंचन्यधर्म का वास्तविक स्वरूप जानना होगा, मानना होगा, समस्त परपदार्थों से भिन्न निजात्मा का अनुभव करना होगा। तत्पश्चात् अन्तरंग परिग्रहरूप कषायों के अभावपूर्वक तदनुसार बाह्य परिग्रह का भी बुद्धिपूर्वक, विकल्पपूर्वक त्याग करना होगा।

यद्यपि यहाँ आकिंचन्यधर्म का वर्णन मुनिभूमिका की अपेक्षा चल रहा है, अतः परिग्रह के पूर्णत्याग की बात आती है; तथापि गृहस्थों को यह सोचकर कि हम तो परिग्रह के पूर्णतः त्यागी हो नहीं सकते – आकिंचन्यधर्म धारण करने से उदासीन नहीं होना चाहिए। उन्हें भी अपनी भूमिकानुसार अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह का त्याग अवश्य करना चाहिये।

जिनधर्म के अपरिग्रह सिद्धान्त अर्थात् आकिंचन्यधर्म पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि अपरिग्रह धर्म को मानने वाले जैनियों के पास सर्वाधिक परिग्रह है; पर गहराई से विचार करने पर इसमें कोई दम नजर नहीं आता। यह कहकर मैं यह नहीं कहना चाहता कि आज के जैनी अपरिग्रही हैं। पर बात यह है कि पुण्योदय से प्राप्त होने वाले अनुकूल संयोगों को लक्ष्य में रखकर ही यह आक्षेप लगाया जाता है, कषायचक्ररूप अंतरंग परिग्रह को लक्ष्य में रखकर नहीं, क्योंकि कषायचक्ररूप अंतरंग परिग्रहों में तो जैनेतर भी जैनियों से पीछे नहीं हैं।

वाह्य विभूति भी जैनियों के पास जितनी दुनियाँ समझती है, उतनी नहीं है। दिखावा अधिक होने से दुनियाँ को ऐसा लगता है। यदि है भी तो सदाचाररूप जीवन के कारण है, सप्तव्यसनादि का अभाव होने से सहज सम्पन्नता दिखाई देती है। जिस दिन जैनसमाज से सदाचार उठ जायेगा, उस दिन उसकी भी वही दशा होगी जो व्यसनी समाज की होती है।

एक वात यह भी विचारणीय है कि धर्म की दृष्टि से गृहस्थावस्था में सच्चे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जैनी भी चक्रवर्ती हो सकते हैं, हुए भी हैं। भरत चक्रवर्ती आदि के जैनत्व में शंका नहीं की जा सकती है। चक्रवर्ती से अधिक परिग्रह तो आज के जैनियों के पास हो नहीं गया है। यह कहकर मैं जैनियों को वाह्य परिग्रह जोड़ना चाहिए, इस वात की पुष्टि नहीं करना चाहता; वल्कि यह कहना चाहता हूँ कि जैनधर्म के अनुसार वे अपरिग्रह के सिद्धान्त का कहाँ तक उल्लंघन कर रहे हैं, यह वात भी विचारणीय है।

जिनधर्म में अपरिग्रह सिद्धान्त को प्रायोगिकरूप देने के लिए कुछ स्तर निश्चित हैं। किस स्तर का जैन कितना परिग्रह का त्याग करता है – इसका विस्तत वर्णन मुनि और श्रावक के आचार के

वर्णन करने वाले चरणानुयोग के ग्रन्थों में विस्तार से किया गया है। तदनुसार मुनिराज के जब रंचमात्र भी बाह्य परिग्रह नहीं होता तब अणुव्रती गृहस्थ अपने बाह्य परिग्रह को अपनी शक्ति और आवश्यकता के अनुसार सीमित कर लेता है। यद्यपि अव्रती गृहस्थ भी अन्याय से धनोपार्जन नहीं करता; तथापि उसके परिग्रह की कोई सीमा निर्धारित नहीं की गई है, उनमें चक्रवर्ती भी होते हैं।

इसप्रकार जैनियों में अनेक भेद पड़ते हैं। यदि जैनमुनि एक सूत के बराबर भी परिग्रह रखे तो वह मुनि नहीं और यदि अव्रती श्रावक छहखण्ड की विभूति का भी मालिक हो तो उसके कारण उसके जैनत्व में कोई कमी नहीं आती, क्योंकि वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है।

यद्यपि बाह्यविभूति और उसे रखने का भाव जैनत्व में बाधक नहीं, तथापि रंचमात्र भी परिग्रह रखने वाले को मुक्ति प्राप्त नहीं होती। अतः मुक्ति के अभिलाषी को तो समस्त परिग्रह का त्याग करना ही चाहिए।

अपरिग्रह की तुलना समाजवाद से भी की जाती है। कुछ लोग तो दोनों को एक ही कहने लगे हैं। पर दोनों में मूलभूत अंतर यह है कि जहाँ समाजवाद का सम्बन्ध मात्र बाह्य वस्तुओं से है, उनके समान वितरण से है; वहाँ अपरिग्रह में कषायों का त्याग मुख्य है। यदि बाह्य परिग्रह से भी समाजवाद की तुलना करें तो भी दोनों के दृष्टिकोण में अंतर स्पष्ट दिखाई देता है।

समाजवाद के दृष्टिकोण के अनुसार यदि भोगसामग्री की कमी नहीं है और वह सबको इच्छानुसार प्राप्त है तो फिर उसके त्याग का या सीमित उपयोग का कोई प्रयोजन नहीं है, पर अपरिग्रह के दृष्टिकोण से यह बात नहीं है; भले ही सभी को असीमित भोग प्राप्त हों, फिर भी हमें अपनी इच्छाओं को सीमित करना ही चाहिए।

अनाज की कमी से सप्ताह में एक दिन भोजन नहीं करना अलग बात है और किसी भी प्रकार की कमी न होने पर भी भोजन का त्याग दूसरी बात है।

समाजवादी दृष्टिकोण पूर्णतः आर्थिक है, जबकि अपरिग्रह की दृष्टि पूर्णतः आध्यात्मिक है। यदि सबके पास कार हो और तुम भी रखो तो समाजवाद को कोई ऐतराज नहीं होगा; पर अपरिग्रह

कहता है तुम्हें औरों से क्या, तुम तो अपनी इच्छाओं को त्यागो अथवा सीमित करो।

समाजवादी दृष्टिकोण में परिग्रह को सीमित करने की बात तो कुछ बैठ भी सकती है, पर परिग्रह-त्याग की बात कैसे बैठेगी ? क्या कोई समाजवादी यह भी चाहता है कि सम्पूर्ण परिग्रह त्याग दिया जाय और सभी नग्न दिगम्बर हो जायें ? नहीं, कदापि नहीं। पर अपरिग्रह तो पूर्णतः त्याग का ही नाम है, सीमित परिग्रह रखने को परिग्रह-परिमाण कहा जाता है, अपरिग्रह नहीं।

यहाँ जिस आकिंचन्यधर्मरूप अपरिग्रह की बात चल रही है, वह तो नग्न दिगम्बर मुनिराजों के ही होता है। यदि सबके पास मोटर-कार हो जायगी तो क्या नग्न दिगम्बर मुनिराज को मोटर-कार में बैठने में आपत्ति नहीं होगी ? यदि समाजवाद ही अपरिग्रह है तो फिर मुनिराज को भी कार रखने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अथवा रेल, मोटर, बस आदि जो सवारी जनसाधारण को आज भी उपलब्ध हैं उनमें भी अपरिग्रही मुनिराज क्यों नहीं बैठते हैं ? इससे स्पष्ट है कि समाजवाद से अपरिग्रह का दृष्टिकोण एकदम भिन्न है।

अपरिग्रह का उत्कृष्ट रूप नग्न दिगम्बर दशा है जो कि समाजवाद का आदर्श कभी नहीं हो सकता। समाजवाद की समस्या भोग-सामग्री के समान वितरण की है और अपरिग्रह का अन्तिम उद्देश्य भोग-सामग्री और भोग के भाव का भी पूर्णतः त्याग है।

यहाँ समाजवाद के विरोध या समर्थन की बात नहीं कही जा रही है, अपितु अपरिग्रह और समाजवाद के दृष्टिकोण में मूलभूत अन्तर क्या है – यह स्पष्ट किया जा रहा है।

समाजवाद में क्रोधादिरूप अन्तरंग परिग्रह और धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह के पूर्णतः त्याग के लिए भी कोई स्थान नहीं है, जबकि अपरिग्रह में उक्त दोनों बातें ही मुख्य हैं। अतः यह निश्चिन्त होकर कहा जा सकता है कि समाजवाद को ही अपरिग्रह कहने वाले समाजवाद का सही स्वरूप समझते हों या नहीं; पर अपरिग्रह का स्वरूप उनकी दृष्टि में निश्चितरूप से नहीं है।

यद्यपि परिग्रह सबसे बड़ा पाप है, जैसाकि पहले सिद्ध किया जा चुका है; तथापि जगत में जिसके पास अधिक बाह्य परिग्रह देखने में आता है, उसे पुण्यात्मा कहा जाता है। शास्त्रों में भी कहीं-कहीं उसे

पुण्यात्मा कह दिया गया है। भाग्यशाली तो उसे सारी दुनियाँ कहती ही है।

हिंसक को कोई पुण्यात्मा नहीं कहता, असत्यवादी और चोर भी पापी ही कहे जाते हैं। इसीप्रकार व्यभिचारी भी जगत की दृष्टि में पापी ही गिना जाता है। जब उक्त चारों पापों के कर्त्ता पापी माने जाते हैं, तब न जाने परिग्रही को पुण्यात्मा, भाग्यशाली क्यों कहा जाता है? कुछ लोग तो उन्हें धर्मात्मा तक कह देते हैं। धर्मात्मा ही क्यों, न जाने क्या-क्या कह देते हैं? तभी तो भर्तृहरि को लिखना पड़ा :–

> यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
> स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
> स एव वक्ता स च दर्शनीयः,
> सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥४१॥[1]

जिसके पास धन है – वही कुलीन (अच्छे कुल में उत्पन्न) है, वही विद्वान है, वही शास्त्रज्ञ है, वही गुणों का जानकार है, वही वक्ता है, और वही दर्शनीय भी है; क्योंकि सब गुण सुवर्ण (धन) में ही आश्रय प्राप्त करते हैं।

तो क्या परिग्रही को पुण्यात्मा अकारण कहा जाता है? ऊपर से तो ऐसा ही लगता है, पर गहराई से विचार करने पर प्रतीत होता है कि इसका भी कारण है और वह यह है कि हिंसादिपाप – कारण, स्वरूप एवं फल – तीनों ही रूप में पापस्वरूप ही हैं; क्योंकि उनके कारण भी पापभाव हैं, वे पापभावस्वरूप तो हैं ही, तथा उनका फल भी पाप का बंध ही है। किन्तु परिग्रह में विशेषकर बाह्य परिग्रह के दृष्टिकोण से देखने पर इनमें अन्तर आ जाता है। बाह्य-विभूतिरूप परिग्रह का कारण पुण्योदय है, पर है वह पापस्वरूप ही; फिर भी यदि उसे भोग में लिया जाय तो पापबंध का कारण बनता है, किन्तु यदि शुभभावपूर्वक शुभकार्य में लगा दिया जाय तो पुण्यबंध का कारण बन जाता है। कहा भी है :–

> 'बहुधन बुरा हू, भला कहिए लीन पर-उपगार सों'।[2]

---

[1] नीतिशतक, छन्द ४१

[2] दशलक्षण पूजन, आकिंचन्यधर्म का छन्द

इसप्रकार बाह्यपरिग्रह का – कारण पुण्य, स्वरूप पाप, और फल अशुभ में लगने पर पाप व शुभ में लगने पर पुण्य हुआ।

यहाँ कोई कहे कि यदि यह बात है तो परिग्रह को पाप कहा ही क्यों है?

वह भले ही पुण्योदय से प्राप्त होता है, पर है तो पाप ही। वह ऐसा वृक्ष है जिसमें बीज पड़ा था पुण्य का, वृक्ष उगा पाप का, और फल लगे ऐसे कि खावे तो मरे अर्थात् पाप बांधे और त्यागे तो जीवे अर्थात् पुण्य बाँधे। यह विविधता इसके स्वभाव में ही पड़ी है। यही कारण है कि सबसे बड़ा पाप होने पर भी जगत में परिग्रही को पुण्यात्मा कह दिया जाता है।

वस्तुतः बात तो ऐसी है कि पाप के उदय से कोई पापी और पुण्य के उदय से कोई पुण्यात्मा नहीं होता, परन्तु पापभाव करे सो पापी, पुण्यभाव करे सो पुण्यात्मा, और धर्मभाव करे सो धर्मात्मा होता है। अन्यथा पूर्ण धर्मात्मा भावलिंगी मुनिराजों को भी पापी मानना होगा, क्योंकि उनके भी पाप का उदय आ जाता है, उससे उन्हें अनेक उपसर्ग एवं कुष्टादि व्याधियाँ हो जाती हैं; पर वे पापी नहीं हो जाते, धर्मभाव के धनी होने से धर्मात्मा ही रहते हैं। इसी प्रकार किसी वेश्या या डाकू के पास बहुत धनादि हो जाने से वे पुण्यात्मा नहीं हो जाते, पापी ही रहते हैं।

जगत कुछ भी कहे पर सब पापों की जड़ होने से परिग्रह सबसे बड़ा पाप है और सर्व कषायों और मिथ्यात्व के अभावरूप होने से आकिंचन्य सबसे बड़ा धर्म है।

इस उत्तम आकिंचन्यधर्म को धारण कर सभी प्राणी पूर्ण सुख को प्राप्त करें, इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

—०○✽○०—
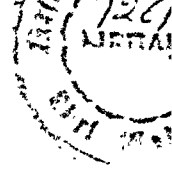
उत्तमब्रह्मचर्य

ब्रह्म अर्थात् निजशुद्धात्मा में चरना, रमना ही ब्रह्मचर्य है। जैसाकि 'अनगार धर्मामृत' में कहा है :-

या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुचप्रवृत्तिः।
तद् ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम् ॥४/६०॥

परद्रव्यों से रहित शुद्ध-बुद्ध अपने आत्मा में जो चर्या अर्थात् लीनता होती है, उसे ही ब्रह्मचर्य कहते हैं। व्रतों में सर्वश्रेष्ठ इस ब्रह्मचर्य व्रत का जो पालन करते हैं, वे अतीन्द्रिय आनंद को प्राप्त करते हैं।

इसीप्रकार का भाव 'भगवती आराधना'[1] एवं 'पद्मनंदि-पंचविंशतिका'[2] में भी प्रकट किया गया है।

यद्यपि निजात्मा में लीनता ही ब्रह्मचर्य है; तथापि जब तक हम अपने आत्मा को जानेंगे नहीं, मानेंगे नहीं, तब तक उसमें लीनता कैसे संभव है? इसलिए कहा गया है कि आत्मलीनता अर्थात् सम्यक्-चारित्र आत्मज्ञान एवं आत्मश्रद्धानपूर्वक ही होता है। ब्रह्मचर्य के साथ लगा उत्तम शब्द भी यही ज्ञान कराता है कि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान सहित आत्मलीनता ही उत्तमब्रह्मचर्य है।

अतः यह स्पष्ट है कि निश्चय से ज्ञानानंदस्वभावी निजात्मा को ही निज मानना, जानना और उसी में जम जाना, रम जाना, लीन हो जाना ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

---

[1] जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरियाहविज्ज जा जदिणो।
तं जाण बंभचेरं विमुक्कपरदेहतित्तिस्स ॥८७८॥
जीव ब्रह्म है, देह की सेवा से विरक्त होकर जीव में ही जो चर्या होती है उसे ब्रह्मचर्य जानो।

[2] आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्यं परं।
स्वाङ्गासंगविवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुनेः ॥
ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है। उस आत्मा में लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है। जिस मुनि का मन अपने शरीर से निर्ममत्व हो गया, उसी के वास्तविक ब्रह्मचर्य होता है।

आज जो ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ समझा जाता है वह अत्यन्त स्थूल है। आज मात्र स्पर्शन इन्द्रिय के विषय-सेवन के त्यागरूप व्यवहार ब्रह्मचर्य को ही ब्रह्मचर्य माना जाता है। स्पर्शन इन्द्रिय के भी संपूर्ण विषयों के त्याग को नहीं, मात्र एक क्रियाविशेष (मैथुन) के त्याग को ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है, जबकि स्पर्शन इन्द्रिय का भोग तो अनेक प्रकार से संभव है।

स्पर्शन इन्द्रिय के विषय आठ हैं :—

१. ठंडा, २. गरम, ३. कड़ा, ४. नरम, ५. सूखा, ६. चिकना, ७. हलका, और ८. भारी।

इन आठों ही विषयों में आनंद अनुभव करना स्पर्शन इन्द्रिय के विषयों का ही सेवन है। गर्मियों के दिनों में कूलर एवं सर्दियों में हीटर का आनंद लेना स्पर्शन इन्द्रिय का ही भोग है। इसीप्रकार डनलप के नरम गद्दों और कठोर आसनों के प्रयोग में आनन्द अनुभव करना तथा रूखे-चिकने व हल्के-भारी स्पर्शों में सुखानुभूति – यह सब स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय हैं। पर अपने को ब्रह्मचारी मानने वालों ने कभी इस ओर भी ध्यान दिया है कि ये सब स्पर्शन इन्द्रिय के विषय हैं, हमें इनमें भी सुखबुद्धि त्यागनी होगी। इनसे भी विरत होना चाहिये।

इससे यह सिद्ध होता है कि हम स्पर्शन इन्द्रिय के भी संपूर्ण भोग को ब्रह्मचर्य का घातक नहीं मानते, अपितु एक क्रियाविशेष (मैथुन) को ही ब्रह्मचर्य का घातक मानते हैं; और जैसे-तैसे मात्र उससे बच कर अपने को ब्रह्मचारी मान लेते हैं।

यदि आत्मलीनता का नाम ब्रह्मचर्य है तो क्या स्पर्शन इन्द्रिय के विषय ही आत्मलीनता में बाधक हैं, अन्य चार इन्द्रियों के विषय क्या आत्मलीनता में बाधक नहीं हैं? यदि हैं, तो उनके भी त्याग को ब्रह्मचर्य कहा जाना चाहिये। क्या रसना इन्द्रिय के स्वाद लेते समय आत्मस्वाद लिया जा सकता है? इसीप्रकार क्या सिनेमा देखते समय आत्मा देखा जा सकता है? नहीं, कदापि नहीं।

आत्मा किसी भी इन्द्रिय के विषय में क्यों न उलझा हो, उस समय आत्मलीनता संभव नहीं है। जबतक पाँचों इन्द्रियों के विषयों से प्रवृत्ति नहीं रुकेगी तब तक आत्मलीनता नहीं होगी और जब तक आत्मलीनता नहीं होगी तब तक पंचेन्द्रियों के विषयों से प्रवृत्ति का रुकना भी संभव नहीं है।

इसप्रकार पंचेन्द्रिय के विषयों में प्रवृत्ति की निवृत्ति यदि नास्ति से ब्रह्मचर्य है तो आत्मलीनता अस्ति से।

यदि कोई कहे कि शास्त्रों में भी तो कामभोग के त्याग को ही ब्रह्मचर्य लिखा है। हम भी ऐसा ही मानते हैं, इसमें हमारी भूल क्या है?

सुनो ! शास्त्रों में कामभोग के त्याग को ब्रह्मचर्य कहा है, सो ठीक ही कहा है। पर कामभोग का अर्थ केवल स्पर्शन-इन्द्रिय का ही भोग लेना – यह कहाँ कहा ? समयसार की चौथी गाथा की टीका करते हुए आचार्य जयसेन ने स्पर्शन और रसना इन्द्रियों के विषयों को माना है काम; और घ्राण, चक्षु, कर्ण इन्द्रिय के विषयों को माना है भोग। इसप्रकार उन्होंने काम और भोग में पंचेन्द्रिय विषयों को ले लिया है। पर हम इस अर्थ को कहाँ मानते हैं ! हमने तो काम और भोग को एकार्थवाची मान लिया है और उसका भी अर्थ एक क्रिया-विशेष (मैथुन) से संबंधित कर दिया है। मात्र एक क्रियाविशेष को छोड़कर पांचों इन्द्रियों के विषयों को भरपूर भोगते हुये भी अपने को ब्रह्मचारी मान बैठे हैं।

जब आचार्यों ने काम और भोग के विरुद्ध आवाज लगाई तो उनका आशय पांचों इन्द्रियों के विषयों के त्याग से था, न कि मात्र मैथुनक्रिया के त्याग से। आज भी जब किसी को ब्रह्मचर्यव्रत दिया जाता है तो साथ में पांचों पापों से निवृत्ति कराई जाती है; सादा खान-पान, सादा रहन-सहन रखने की प्रेरणा दी जाती है; सर्व प्रकार के शृंगारों का त्याग कराया जाता है। अभक्ष्य एवं गरिष्ठ भोजन का त्याग आदि बातें पंचेन्द्रियों के विषयों के त्याग की ओर ही संकेत करती हैं।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाओं और अतिचारों की चर्चा करते हुए लिखा है :–

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्ये-ष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ॥ अध्याय ७, सूत्र ७।

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीड़ाका-मतीव्राभिनिवेशा ॥ अध्याय ७, सूत्र २८।

इसमें श्रवण, निरीक्षण, स्मरण, रसस्वाद, शृंगार, अनंग क्रीड़ा आदि को ब्रह्मचर्य का घातक कहा गया है।

यदि हम पंचेन्द्रिय के विषयों में निर्बाध प्रवृत्ति करते रहें और मात्र स्त्री-संसर्ग का त्याग कर अपने को ब्रह्मचारी मान बैठें तो यह एक भ्रम ही है। तथा यदि स्त्री-संसर्ग के साथ-साथ पंचेन्द्रिय के विषयों को भी बाह्य से छोड़ दें, गरिष्ठादि भोजन भी न करें; फिर भी यदि आत्मलीनतारूप ब्रह्मचर्य अन्तर में प्रकट नहीं हुआ तो भी हम सच्चे ब्रह्मचारी नहीं हो पावेंगे। अतः आत्मलीनतापूर्वक पंचेन्द्रिय के विषयों का त्याग ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

यद्यपि शास्त्रों में आचार्यों ने भी ब्रह्मचर्य की चर्चा करते हुए स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय-त्याग पर ही अधिक बल दिया है, कहीं-कहीं तो रसनादि इन्द्रियों के विषयों के त्याग की चर्चा तक नहीं की है; तथापि उसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उन्होंने रसनादि चार इन्द्रियों के विषयों के सेवन को ब्रह्मचर्य का घातक नहीं माना, उनके सेवन की छूट दे रखी है। जब वे स्पर्शन-इन्द्रिय को जीतने की बात करते हैं तो उनका आशय पाँचों इन्द्रियों के विषयों के त्याग से ही रहता है, क्योंकि स्पर्शन में पाँचों इन्द्रियाँ गर्भित हैं। आखिर नाक, कान, आँखें शरीररूप स्पर्शनेन्द्रिय के ही तो अंग हैं। स्पर्शन-इन्द्रिय सारा ही शरीर है, जबकि शेष चार इन्द्रियाँ उसके ही अंश (Parts) हैं। स्पर्शन इन्द्रिय व्यापक है, शेष चार इन्द्रियाँ व्याप्य हैं।

जैसे भारत कहने में राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र आदि सारे प्रदेश आ जाते हैं, पर राजस्थान कहने में पूरा भारत नहीं आता; उसीप्रकार शरीर कहने में आँख, कान, नाक आ जाते हैं, आँख-कान कहने में पूरा शरीर नहीं आता।

इसप्रकार स्पर्शन-इन्द्रिय का क्षेत्र विस्तृत और अन्य इन्द्रियों का संकुचित है।

जिसप्रकार भारत को जीत लेने पर सभी प्रान्त जीत लिये गये— ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं, पर राजस्थान को जीतने पर सारा भारत जीत लिया — ऐसा नहीं माना जा सकता है; इसीप्रकार स्पर्शन-इन्द्रिय को जीत लेने पर सभी इन्द्रियाँ जीत ली जाती हैं, पर रसनादि के जीतने पर स्पर्शन-इन्द्रिय जीत ली गयी — ऐसा नहीं माना जा सकता।

अतः यह कहना अनुचित नहीं कि स्पर्शन-इन्द्रिय को जीतने वाला ब्रह्मचारी है, पर उक्त कथन का आशय पंचेन्द्रियों को जीतने से ही है।

यदि कर्ण-इन्द्रिय के विषयसेवन के अभाव को ब्रह्मचर्य कहते तो फिर चार-इन्द्रिय जीवों को ब्रह्मचारी मानना पड़ता, क्योंकि उनके कर्ण है ही नहीं, तो कर्ण के विषय का सेवन कैसे संभव है? इसी-प्रकार चक्षु-इन्द्रिय के विषयसेवन के अभाव को ब्रह्मचर्य कहने पर तीन-इन्द्रिय जीवों को, घ्राण के विषयाभाव को ब्रह्मचर्य कहने पर दो-इन्द्रिय जीवों को, रसना के विषयाभाव को ब्रह्मचर्य कहने पर एकेन्द्रिय जीवों को ब्रह्मचारी मानने का प्रसंग प्राप्त होता है; क्योंकि उनके उक्त इन्द्रियों का अभाव होने से उनका विषयसेवन सम्भव नहीं है।

इसी क्रम में यदि कहा जाय कि इसप्रकार तो फिर यदि स्पर्शन-इन्द्रिय के विषयसेवन के अभाव को ब्रह्मचर्य मानने पर स्पर्शन-इन्द्रियरहित जीवों को ब्रह्मचारी मानना होगा – तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि स्पर्शन-इन्द्रिय से रहित सिद्ध भगवान ही हैं और वे पूर्ण ब्रह्मचारी हैं ही। संसारी जीवों में तो कोई ऐसा है नहीं, जो स्पर्शन-इन्द्रिय से रहित हो।

इसप्रकार स्पर्शन-इन्द्रिय के विषयत्याग को ब्रह्मचर्य कहने में कोई दोष नहीं आता।

इसीप्रकार मात्र क्रियाविशेष (मैथुन) के अभाव को ही ब्रह्मचर्य मानें तो फिर पृथ्वी, जलकायादि जीवों को भी ब्रह्मचारी मानना होगा, क्योंकि उनके मैथुनक्रिया देखने में नहीं आती।

यदि आप कहें कि एकेन्द्रियादि जीवों को ब्रह्मचारी मानने में क्या आपत्ति है?

यही कि उनके आत्मरमणतारूप निश्चयब्रह्मचर्य नहीं है, आत्मरमणतारूप ब्रह्मचर्य सैनी पंचेन्द्रिय के ही होता है; तथा एकेन्द्रियादि जीवों के मोक्ष भी मानना पड़ेगा, क्योंकि ब्रह्मचर्यधर्म को पूर्णतः धारण करने वाले मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करते ही हैं।

कहा भी है :–

'द्यानत धर्म दश पैंड चढ़िके, शिवमहल में पग धरा।'

द्यानतरायजी कहते हैं कि दशधर्मरूपी पैड़ियों (सीढ़ियों) पर चढ़कर शिवमहल में पहुँचते हैं। दशधर्मरूपी सीढ़ियों में दसवीं सीढ़ी है ब्रह्मचर्य, उसके बाद तो मोक्ष ही है।

चार इन्द्रियाँ हैं खण्ड-खण्ड, और स्पर्शन-इन्द्रिय है अखण्ड; क्योंकि आत्मा के प्रदेशों का आकार एवं स्पर्शन-इन्द्रिय का आकार

बराबर एवं एक-सा है, जबकि अन्य इन्द्रियों के साथ ऐसा नहीं है। अखण्ड पद की प्राप्ति के लिए अखण्ड इन्द्रिय को जीतना आवश्यक है।

जितने क्षेत्र का स्वामित्व या प्रतिनिधित्व प्राप्त करना हो उतने क्षेत्र को जीतना होगा;- ऐसा नहीं हो सकता कि हम जीतें राजस्थान को और स्वामी बन जायें पूरे हिन्दुस्तान के। हम चुनाव लड़ें नगरनिगम का और बन जायें भारत के प्रधानमंत्री। भारत का प्रधानमंत्री बनना है तो लोकसभा का चुनाव लड़ना होगा और समस्त भारत में से चुने हुए प्रतिनिधियों का बहुमत प्राप्त करना होगा। उसीप्रकार ऐसा नहीं हो सकता हम जीतें खण्ड इन्द्रियों को और प्राप्त कर लें अखण्ड पद को। अखण्ड पद को प्राप्त करने के लिये जिसमें पाँचों ही इन्द्रियाँ गर्भित हैं ऐसी अखण्ड स्पर्शन-इन्द्रिय को जीतना होगा।

यही कारण है कि आचार्यों ने प्रमुखरूप से स्पर्शन-इन्द्रिय के जीतने को ब्रह्मचर्य कहा है।

रसनादि चार इन्द्रियाँ न हों तो भी सांसारिक जीवन चल सकता है, पर स्पर्शन-इन्द्रिय के बिना नहीं। आँखें फूटी हों, कान से कुछ सुनाई नहीं पड़ता हो, तो भी जीवन चलने में कोई बाधा नहीं; पर स्पर्शन-इन्द्रिय के बिना तो सांसारिक जीवन की कल्पना भी सम्भव नहीं है।

आँख-कान-नाक के विषयों का सेवन तो कभी-कभी होता है, पर स्पर्शन का तो सदा चालू ही है। बदबू आवे तो नाक बन्द की जा सकती है, तेज आवाज में कान भी बन्द किये जा सकते हैं। आँख का भी बन्द करना सम्भव है। इसप्रकार आँख, नाक, कान बन्द किये जा सकते हैं, पर स्पर्शन का क्या बन्द करें ? वह तो सर्दी-गर्मी, रूखा-चिकना, कड़ा-नरम का अनुभव किया ही करती है।

रसना का आनन्द खाते समय ही आता है। इसीप्रकार घ्राण का सूंघते समय, चक्षु का देखते समय तथा कर्ण का मधुर वाणी सुनते समय ही योग होता है; पर स्पर्शन का विषय तो चालू ही है।

अतः स्पर्शन-इन्द्रिय क्षेत्र से तो अखण्ड है ही, काल से भी अखण्ड है। शेष चार इन्द्रियाँ न क्षेत्र से अखण्ड हैं, न काल से।

चारों इन्द्रियों के कालसंबंधी खण्डपने एवं स्पर्शन के अखण्डपने का एक कारण और भी है। वह यह कि स्पर्शन-इन्द्रिय का साथ तो

अनादि से लेकर आजतक अखण्डपने है, कभी भी इसका साथ छूटा नहीं। कभी ऐसा नहीं हुआ कि आत्मा के साथ संसारदशा में स्पर्शन-इन्द्रिय न रहे। पर शेष चार इन्द्रियाँ अनादि की तो हैं ही नहीं, क्योंकि निगोद में थी ही नहीं। जब से उनका संयोग हुआ है, छूट भी अनेक वार गयी हैं। ये आनी-जानी हैं; आती हैं, चली जाती हैं, फिर आ जाती हैं। इनसे छूटना न तो कठिन है, और न लाभदायक ही; पर स्पर्शन-इन्द्रिय का छूटना जितना कठिन है, उससे अधिक लाभदायक भी। क्योंकि इसके छूट जाने पर जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यह एक बार पूर्णतः छूट जावे तो दुबारा इसका संयोग नहीं होता।

चार इन्द्रियों की गुलामी तो कभी-कभी ही करनी पड़ी है, पर इस स्पर्शन के गुलाम तो हम सब अनादि से हैं। इसकी गुलामी छूटे बिना, गुलामी छूटती ही नहीं।

जब तक स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय को जीतेंगे नहीं तब तक हम पूर्ण सुखी, पूर्ण स्वतंत्र नहीं हो सकेंगे। इस स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय को अपना महान शत्रु, त्रैकालिक शत्रु, सार्वभौमिक शत्रु जानकर ही आचार्यों ने इसके विषय-त्याग को ब्रह्मचर्य घोषित किया है। पर इसका आशय यह कदापि नहीं कि हम चार इन्द्रियों के विषयों को भोगते हुये सुखी हो जावेंगे। क्योंकि मर्म की बात तो यह है कि जब तक यह आत्मा आत्मा में लीन नहीं होगा, किसी न किसी इन्द्रिय का विषय चलता ही रहेगा और जब यह आत्मा आत्मामें लीन हो जावेगा तो किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं रहेगा।

अतः यह निश्चित हुआ कि पंचेन्द्रिय के विषयों के त्यागपूर्वक हुई आत्मलीनता ही ब्रह्मचर्य है।

पंचेन्द्रिय के विषय के भोगों के त्याग की बात तो यह जगत आसानी से स्वीकार कर लेता है, किन्तु जब यह कहा जाता है कि पंचेन्द्रिय के माध्यम से जानना-देखना भी आत्म-रमणतारूप ब्रह्मचर्य में साधक नहीं, बाधक ही है; तो सहज स्वीकार नहीं करता। उसे लगता है कि कहीं ज्ञान (इन्द्रियज्ञान) भी ब्रह्मचर्य में बाधक हो सकता है ? पर वह यह विचार नहीं करता कि आत्मा तो अतीन्द्रिय महा-पदार्थ है, वह इन्द्रियों के माध्यम से कैसे जाना जा सकता है ? स्पर्शन-इन्द्रिय के माध्यम से तो स्पर्शवान पुद्गल पकड़ने में आता है, आत्मा

तो स्पर्शगुण से रहित है । इसीप्रकार रसना का विषय तो है रस और आत्मा है अरस, घ्राण का विषय तो है गंध और आत्मा है अगंध, चक्षु का विषय है रूप और आत्मा है अरूपी, कर्ण का विषय है शब्द और आत्मा है शब्दातीत, मन का विषय है विकल्प और आत्मा है विकल्पातीत – इसप्रकार सभी इन्द्रियाँ और अनिंद्रिय (मन) तो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, एवं विकल्प के ग्राहक हैं और आत्मा अस्पर्शी, अरस, अगंध, अरूपी एवं शब्दातीत, विकल्पातीत है ।

अतः इन्द्रियातीत-विकल्पातीत आत्मा को पकड़ने में, जकड़ने में इन्द्रियाँ और मन अनुपयोगी ही नहीं, वरन् बाधक हैं, घातक हैं, क्योंकि जब तक यह आत्मा इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से ही जानता-देखता रहेगा तब तक आत्मदर्शन नहीं होगा । जब आत्मदर्शन ही न होगा तब आत्मलीनता का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता ।

इन्द्रियों की वृत्ति बहिर्मुखी है और आत्मा अन्तरोन्मुखी वृत्ति से पकड़ने में आता है ।

कविवर द्यानतरायजी ने दशलक्षण पूजन में भी कहा है :–

'ब्रह्मभाव अन्तर लखो' ।

ब्रह्मस्वरूप आत्मा को देखना है तो अन्तर में देखो । आत्मा अन्तर में झांकने से दिखाई देती है, क्योंकि वह है भी अन्तर में ही ।

इन्द्रियों की वृत्ति बहिर्मुखी है – क्योंकि वे अपने को नहीं, पर को जानने-देखने में निमित्त हैं । सभी इन्द्रियों के दरवाजे बाहर को ही खुलते हैं, अन्दर को नहीं । आँख से आँख दिखाई नहीं देती, आँख के भीतर क्या है यह भी दिखाई नहीं देता, पर बाहर क्या है यह दिखाई देता है । इसीप्रकार रसना भी अन्दर का स्वाद नहीं लेती, वरन् बाहर से आने वाले पदार्थों को चखती है । घ्राण भी क्या भीतर की दुर्गंध सूँघ पाती है ? जब वही दुर्गंध किसी रास्ते से निकल कर नाक में बाहर से टकराती है, तब नाक उसे ग्रहण कर पाती है । कान भी बाहर की ही सुनते हैं । स्पर्शन भी मात्र बाहर की सर्दी-गर्मी आदि के प्रति सतर्क दिखाई देती है । इसप्रकार पाँचों ही इन्द्रियाँ बहिर्मुख वृत्तिवाली हैं ।

बहिर्मुखी वृत्तिवाली एवं रूपरसादि की ग्राहक इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी वृत्ति का विषय एवं अरस, अरूपी आत्मा को जानने में सहायक

कैसे हो सकती हैं ? यही कारण है कि इन्द्रियभोगों के समान ही इन्द्रियज्ञान भी ब्रह्मचर्य में साधक नहीं, बाधक ही है।

लोग कहते हैं :– 'झूठा है संसार, आँख खोलकर देखो'।

पर मैं तो यह कहना चाहता हूँ – 'सांचा है आत्मा, आँख बन्द करके देखो'।

आत्मा आँखें खोलकर देखने की वस्तु नहीं, अपितु बंद करके देखने की चीज है। आँखों से ही क्या, पाँचों इन्द्रियों से उपयोग हटा कर अपने में ले जाने से आत्मा दिखाई देता है।

फिर भी जब इन्द्रिय के भोगों के त्याग की बात करते हैं तो जगत कहता है – 'ठीक है, इन्द्रियभोग त्यागने योग्य ही हैं, आपने बहुत अच्छा कहा।' पर जब यह कहते हैं कि इन्द्रियज्ञान भी तो आत्मानुभूतिरूप ब्रह्मचर्य में सहायक नहीं; तो सामान्यजन एकदम भड़क जाते हैं; समाज में खलबली मच जाती है। कहा जाता है – 'तो क्या हम आँख से देखें भी नहीं, शास्त्र भी नहीं पढ़ें ?' और न जाने क्या-क्या कहा जाने लगता है। बात को गहराई से समझने की कोशिश न करके आरोप-प्रत्यारोप लगाये जाने लगते हैं। पर भाई ! काम तो वस्तु की सही स्थिति समझने से चलेगा, चीखने-चिल्लाने से नहीं।

अल्पज्ञ आत्मा एक समय में एक को ही जान सकता है, एक में ही लीन हो सकता है। अतः जब यह पर को जानेगा, पर में लीन होगा; तब अपने को जानना, अपने में लीन होना संभव नहीं है। इन्द्रियों के माध्यम से पर को ही जाना जा सकता है, पर में ही लीन हुआ जा सकता है। इनके माध्यम से न तो अपने को जाना ही जा सकता है, और न अपने में लीन ही हुआ जा सकता है। अतः इन्द्रियों के द्वारा परपदार्थों को भोगना तो ब्रह्मचर्य का घातक है ही, इनके माध्यम से बाहर का जानना-देखना भी ब्रह्मचर्य में बाधक ही है।

इसप्रकार इन्द्रियों के विषय – चाहे वे भोग्यपदार्थ हों, चाहे ज्ञेय पदार्थ; ब्रह्मचर्य के विरोधी ही हैं, क्योंकि वे आखिर हैं तो इन्द्रियों के विषय ही। इन्द्रियों के दोनों प्रकार के विषयों में उलझना, उलझना ही है; सुलझना नहीं। सुलझने का उपाय तो एक आत्म-लीनतारूप ब्रह्मचर्य ही है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब इन्द्रियज्ञान आत्मज्ञान में साधक नहीं है तो फिर शास्त्रों में ऐसा क्यों लिखा है कि सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान एवं आत्मलीनतारूप सम्यक्चारित्र अर्थात् ब्रह्मचर्य सैनी पंचेंद्रिय को ही होता है ?

इसका आशय यह नहीं कि आत्मज्ञान के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता है, पर यह है कि ज्ञान का इतना विकास आवश्यक है कि जितना सैनी पंचेन्द्रियों के होता है। यह तो ज्ञान के विकास का नाप है।

यद्यपि यह पूर्णतः सत्य है कि सैनी पंचेन्द्रिय जीवों को ही धर्म का आरम्भ होता है, तथापि यह भी पूर्णतः सत्य है कि इन्द्रियों से नहीं; इन्द्रियों के जीतने से, उनके माध्यम से काम लेना वंद करने पर धर्म का आरंभ होता है।

दूसरे जव यह आत्मा आत्मामें लीन नहीं होगा तब किसी न किसी इन्द्रिय के विषय में लीन होगा; पर पाँचों इन्द्रियों के विषय में भी यह एक साथ लीन नहीं हो सकता, एक समय में उनमें से किसी एक में लीन होगा। इसीप्रकार पाँचों इन्द्रियों के विषयों को एक साथ जान भी नहीं सकता; क्योंकि इन्द्रियज्ञान की प्रवृत्ति क्रमशः ही होती है, युगपत् नहीं। चाहे इन्द्रियों का भोगपक्ष हो या ज्ञानपक्ष – दोनों में क्रम पड़ता है। जव हम ध्यान से कोई वस्तु देख रहे हों तो कुछ सुनाई नहीं पड़ता। इसीप्रकार यदि ध्यान से सुन रहे हों तो कुछ दिखाई नहीं देता। पर इस चंचल उपयोग का परिवर्तन इतनी शीघ्रता से होता है कि हमें लगता है हम एक साथ देख – सुन रहे हैं, पर ऐसा होता नहीं।

अव जिसके पाँच इन्द्रियाँ हैं, वह यदि आत्मा में उपयोग को नहीं लगाता है तो उसका उपयोग पाँचों इन्द्रियों के विषयों में बट जावेगा; पर जिसके चार ही इन्द्रियाँ हैं उसका उपयोग चार इन्द्रियों के विषयों में ही वटेगा। इसप्रकार तीन-इन्द्रिय जीव का तीन इन्द्रियों में और दो-इन्द्रिय जीव का दो इन्द्रियों में वटेगा। पर एक-इन्द्रिय जीव का उपयोग एवं भोग वटेगा ही नहीं, स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय में ही अवाधरूप से उलझा रहेगा।

इसतरह जव उपयोग आत्मा में नहीं रहता है तव इन्द्रियों के विषयों में वट जाता है। आत्मा तो एक ही है, उपयोग का उसमें रहने पर वटने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। जव वह सैनी पंचेन्द्रिय हो जाता है तव वहिर्मुखी उपयोग पंचेन्द्रियों के विषयों में वट जाने से कमजोर हो जाता है।

इस स्थिति में ज्ञान के विकसित होने एवं इन्द्रियों के उपयोग की शक्ति घटी हुई होने से आत्मज्ञान होने की शक्ति प्रकट हो जाती है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पंचेन्द्रियों के ज्ञेय एवं भोग – दोनों प्रकार के विषयों के त्यागपूर्वक आत्मलीनता ही वास्तविक अर्थात् निश्चयब्रह्मचर्य है।

अंतरंग अर्थात् निश्चयब्रह्मचर्य पर इतना बल देने का तात्पर्य यह नहीं है कि स्त्री-सेवनादि के त्यागरूप बाह्य अर्थात् व्यवहार-ब्रह्मचर्य उपेक्षणीय है। यहाँ निश्चयब्रह्मचर्य का विस्तृत विवेचन तो इसलिए किया गया है कि – व्यवहारब्रह्मचर्य से तो सारा जगत परिचित है, पर निश्चयब्रह्मचर्य की ओर जगत का ध्यान ही नहीं है।

जीवन में दोनों का सुमेल होना आवश्यक है। जिसप्रकार आत्मरमणतारूप निश्चयब्रह्मचर्य की उपेक्षा करके मात्र कुशीलादि सेवन के त्यागरूप व्यवहारब्रह्मचर्य को ही ब्रह्मचर्य मान लेने के कारण उल्लिखित अनेक आपत्तियाँ आती हैं, उसीप्रकार विषयसेवन के त्यागरूप व्यवहारब्रह्मचर्य की उपेक्षा से भी अनेक प्रश्न उठ खड़े होंगे।

जैसे – उपदेशादि में प्रवृत्त भावलिंगी सन्तों को भी तात्कालिक आत्मरमणतारूप प्रवृत्ति के अभाव में ब्रह्मचारी कहना सम्भव न होगा; फिर तो मात्र सदा ही आत्मलीन केवली ही ब्रह्मचारी कहला सकेंगे। यदि आप कहें कि उनके जो आत्मरमणतारूप ब्रह्मचर्य है, उसका उपचार करके तब भी उन्हें ब्रह्मचारी मान लेंगे जबकि वे उपदेशादि क्रिया में प्रवृत्त हैं। तो फिर किंचित् ही सही, पर आत्म-रमणता के होने से अविरत सम्यग्दृष्टि को भी ब्रह्मचारी मानना होगा, जो कि उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि फिर तो छ्यानवे हजार पत्नियों के रहते चक्रवर्ती भी ब्रह्मचारी कहा जायगा।

अतः ब्रह्मचारी संज्ञा स्वस्त्री के भी सेवनादि के त्यागरूप व्यवहारब्रह्मचर्य के ही आधार पर निश्चित होती है। फिर भी आत्मरमणतारूप निश्चयब्रह्मचर्य के अभाव में मात्र स्त्रीसेवनादि के त्यागरूप ब्रह्मचर्य वास्तविक ब्रह्मचर्य नहीं है।

पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक के अनन्तानुबंधी एवं अप्रत्याख्यान कषायों के अभावपूर्वक जो सातवीं प्रतिमा के योग्य निश्चयब्रह्मचर्य

होता है, उसके साथ स्वस्त्री के सेवनादि के त्यागरूप बुद्धिपूर्वक जो प्रतिज्ञा होती है वही वास्तव में व्यवहारब्रह्मचर्य है ।

इसप्रकार जीवन में निश्चय और व्यवहार ब्रह्मचर्य का सुमेल आवश्यक है ।

पूजनकार ने दोनों की ही संतुलित चर्चा की है :—

शीलवाड़ नौ राख, ब्रह्मभाव अंतर लखो ।
करि दोनों अभिलाख, करहु सफल नरभव सदा ।।

हमें अपने शील की रक्षा नववाड़पूर्वक करना चाहिये तथा अन्तर में अपने आत्मा को देखना-अनुभवना चाहिये । दोनों ही प्रकार के ब्रह्मचर्य का अभिलाषी होकर मनुष्यभव का वास्तविक लाभ लेना चाहिये ।

जिसप्रकार खेत की रक्षा वाड़ लगाकर करते हैं, उसीप्रकार हमें अपने शील की रक्षा नौ वाड़ों से करना चाहिये । जितना अधिक मूल्यवान माल (वस्तु) होता है; उसकी रक्षा-व्यवस्था उतनी ही अधिक मजबूत करनी पड़ती है । अधिक मूल्यवान माल की रक्षा के लिये मजबूती के साथ-साथ एक के स्थान पर अनेक वाड़ें लगाई जाती हैं ।

हम रत्नों को कहीं जंगल में नहीं रखते । नगर के बीच में— मजबूत मकान के भी भीतर बीचवाले कमरे में लोहे की तिजोरी में तीन-तीन ताले लगाकर रखते हैं । शील भी एक रत्न है, उसकी भी रक्षा हमें नौ-नौ वाड़ों से करनी चाहिए । हम काया से कुशील का सेवन नहीं करें, कुशीलपोषक वचन भी न बोलें, मन में भी कुशीलसेवन के विचार न उठने दें । ऐसा न हम स्वयं करें, न दूसरों से करावें, और न इसप्रकार के कार्यों की अनुमोदना ही करें ।

इसप्रकार यद्यपि शास्त्रों में भी निश्चयब्रह्मचर्य का सहचारी जानकर स्त्रीसेवनादि के त्यागरूप व्यवहारब्रह्मचर्य की पर्याप्त चर्चा की गई है; तथापि आत्मरमणतारूप निश्चयब्रह्मचर्य के बिना मुक्ति के मार्ग में उसका विशेष महत्त्व नहीं है । निश्चयब्रह्मचर्य के बिना वह अनाथ-सा ही है ।

यद्यपि यहाँ उत्तमब्रह्मचर्य का वर्णन मुनिधर्म की अपेक्षा किया गया है, अतः उत्कृष्टतम वर्णन है; तथापि गृहस्थों को भी ब्रह्मचर्य

की आराधना से विरत नहीं होना चाहिए, उन्हें भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार इसे अवश्य धारण करना चाहिये ।

मुनियों और गृहस्थों की कौनसी भूमिका में किस स्तर का अन्त-र्वाह्य ब्रह्मचर्य होता है – इसकी चर्चा चरणानुयोग के शास्त्रों में विस्तार से की गई है। जिज्ञासु बन्धुओं को इस विषय में विस्तार से वहाँ से जानना चाहिये। उन सबका वर्णन इस लघु निबन्ध में सम्भव नहीं है।

ब्रह्मचर्य एक धर्म है, उसका सीधा सम्बन्ध आत्महित से है। इसे किसी लौकिक प्रयोजन की सिद्धि का माध्यम बनाना ठीक नहीं है। पर इसका प्रयोग एक उपाधि (Degree) जैसा किया जाने लगा है। यह भी आजकल एक उपाधि (Degree) बन कर रह गया है। जैसे – शास्त्री, न्यायतीर्थ, एम०ए०, पीएच०डी०; या वाणीभूषण, विद्यावाचस्पति; या दानवीर, सरसेठ आदि उपाधियाँ व्यवहृत होती हैं; उसीप्रकार इसका भी व्यवहार चल पड़ा है।

यह यश-प्रतिष्ठा का साधन बन गया है। इसका उपयोग इसी अर्थ में किया जाने लगा है। इस कारण भी इस क्षेत्र में विकृति आयी है।

जिसप्रकार आज की सन्मानजनक उपाधियाँ भीड़-भाड़ में ली और दी जाती हैं, उसीप्रकार इसका भी आदान-प्रदान होने लगा है। अब इसका भी जुलूस निकलता है। इसके लिए भी हाथी चाहिये, बैंड-बाजे चाहिये। यदि स्त्री-त्याग को भी बैंड-बाजे चाहिये तो फिर शादी-ब्याह का क्या होगा ?

आज की दुनियाँ को क्या हो गया है ? इसे स्त्री रखने में भी बैंड-बाजे चाहिये, स्त्री छोड़ने में भी बैंड-बाजे चाहिये। समझ में नहीं आता ग्रहण और त्याग में एक-सी क्रिया कैसे सम्भव है ?

एक व्यक्ति भीड़-भाड़ के अवसर पर अपने श्रद्धेय गुरु के पास ब्रह्मचर्य लेने पहुँचा, पर उन्होंने मना कर दिया तो मेरे जैसे अन्य व्यक्ति के पास सिफारिश कराने के लिये आया। जब उससे कहा गया – "गुरुदेव अभी ब्रह्मचर्य नहीं देना चाहते तो मत लो, वे भी तो कुछ सोच-समझ कर मना करते होंगे।"

उसके द्वारा अनुनय-विनयपूर्वक बहुत आग्रह किये जाने पर जब उससे कहा गया कि "भाई ! समझ में नहीं आता कि तुम्हें इतनी परेशानी क्यों हो रही है ? भले ही गुरुदेव तुम्हें ब्रह्मचर्य व्रत न दें, पर

वे तुम्हें ब्रह्मचर्य से रहने से तो रोक नहीं सकते; तुम ब्रह्मचर्य से रहो न, तुम्हें क्या परेशानी है ? तुम्हें ब्रह्मचर्य से रहने से तो कोई रोक नहीं सकता।"

इसके बाद भी उसे सन्तोष नहीं हुआ तो उससे कहा गया कि "अभी रहने दो, अभी छह मास अभ्यास करो। बाद में तुम्हें ब्रह्मचर्य दिला देंगे, जल्दी क्या है ?"

तब वह एकदम बोला – "ऐसा अवसर फिर कब मिलेगा ?"

"कैसा अवसर" – यह पूछने पर कहने लगा – "यह पंचकल्याणक मेला बार-बार थोड़े ही होगा।"

अब आप ही बताइये कि उसे ब्रह्मचर्य चाहिये, कि पचास हजार जनता के बीच ब्रह्मचर्य चाहिये। उसे ब्रह्मचर्य से नहीं, ब्रह्मचर्य की घोषणा से मतलब था। उसे ब्रह्मचर्य नहीं, ब्रह्मचर्य की डिग्री चाहिये थी; वह भी सबके बीच घोषणापूर्वक, जिससे उसे समाज में सर्वत्र सम्मान मिलने लगे, उसकी भी पूछ होने लगे, पूजा होने लगे।

जैनधर्मानुसार तो सातवीं ब्रह्मचर्यप्रतिमा तक घर में रहने का अधिकार ही नहीं, कर्त्तव्य है। अर्थात् बनाकर खाने की ही बात नहीं, कमाकर खाने की भी बात है; क्योंकि वह अभी परिग्रहत्यागी नहीं हुआ है, आरंभत्यागी भी नहीं हुआ है। उसे तो चादर ओढ़ने की भी जरूरत नहीं है; वह तो धोती, कुर्त्ता, पगड़ी आदि पहनने का अधिकारी है; शास्त्रों में कहीं भी इसका निषेध नहीं है।

पर ब्रह्मचर्यप्रतिमा तो दूर, पहली भी प्रतिमा नहीं; कोरा ब्रह्मचर्य लिया, चादर ओढ़ी और चल दिये। कमाकर खाना तो दूर, बनाकर खाने से भी छुट्टी। मुझे इस बात की कोई तकलीफ नहीं कि उन्हें समाज क्यों खिलाता है ? समाज की यह गुणग्राहकता प्रशंसनीय ही नहीं, अभिनन्दनीय है। मेरा आशय तो यह है कि जब उनकी व्यवस्था कहीं की समाज नहीं कर पाती है, तब देखिये उनका व्यवहार; सर्वत्र उक्त समाज की बुराई करना मानो उनका प्रमुख धर्म हो जाता है। समाज प्रेम से उनका भार उठाये, आदर करे – बहुत बढ़िया बात है, पर बलात् समाज पर भार डालना शास्त्र-सम्मत नहीं है।

ब्रह्मचर्यधर्म तो एकदम अंतर की चीज है, व्यक्तिगत चीज है; पर वह भी आज उपाधि (Degree) बन गयी है। ब्रह्मचर्य तो आत्मा में लीनता का नाम है, पर जब अपने को ब्रह्मचारी कहने वाले आत्मा के नामसे ही बिचकते हों तो क्या कहा जाय ?

आत्मा के अनुभव विना तो सम्यग्दर्शन भी नहीं होता, व्रत तो सम्यग्दर्शन के बाद होते हैं। स्वस्त्री का संग तो छठवीं प्रतिमा तक रहता है, सातवीं प्रतिमा में स्वस्त्री का साथ छूटता है। अर्थात् स्त्री-सेवन के त्याग के पहले आत्मा का अनुभवरूप ब्रह्मचर्य होता है, पर उसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं है।

यहाँ सम्यग्दर्शन के विना भी वाह्य ब्रह्मचर्य का निषेध नहीं है, वह निवृत्ति के लिये उपयोगी भी है। गृहस्थ संबंधी झंझटों के न होने से शास्त्रों के अध्ययन-मनन-चिन्तन के लिये पूरा-पूरा अवसर मिलता है। पर वाह्य ब्रह्मचर्य लेकर स्वाध्यायादि में न लगकर मानादि पोषण में लगे तो उसने वाह्य ब्रह्मचर्य भी नहीं लिया, मान लिया है, सम्मान लिया है।

ब्रह्मचर्य की चर्चा करते समय दशलक्षण पूजन में एक पंक्ति आती है :–

'संसार में विष-वेल नारी, तज गये योगीश्वरा।'

आजकल जब भी ब्रह्मचर्य की चर्चा चलती है तो दशलक्षण पूजन की उक्त पंक्ति पर बहुत नाक-भौं सिकोड़ी जाती है। कहा जाता है कि इसमें नारियों की निन्दा की गई है। यदि नारी विष की वेल है तो क्या नर अमृत का वृक्ष है ? नर भी तो विष-वृक्ष है।

यहाँ तक कहा जाता है कि पूजाएँ पुरुषों ने लिखी हैं, अतः उसमें नारियों के लिए निन्दनीय शब्दों का प्रयोग किया गया है।

तो क्या नारियाँ भी एक पूजन लिखें और उसमें लिखदें कि :–

'संसार में विष-वृक्ष नर, सब तज गईं योगीश्वरीं।'

भाई, ब्रह्मचर्य जैसे पावन विषय को नर-नारी के विवाद का विषय क्यों बनाते हो ? ब्रह्मचर्य की चर्चा में पूजनकार का आशय नारी-निन्दा नहीं है। पुरुषों को श्रेष्ठ बताना भी पूजनकार को इष्ट नहीं है। इसमें पुरुषों के गीत नहीं गाये हैं, वरन् उन्हें कुशील के विरुद्ध डांटा है, फटकारा है।

नारी शब्द में तो सभी नारियाँ आ जाती हैं; जिनमें माता, बहिन, पुत्री आदि भी शामिल हैं। तो क्या नारी को विष-वेल कहकर माता, बहिन और पुत्री को विष-वेल कहा गया है ?

नहीं, कदापि नहीं।

क्या इस छन्द में 'नारी' के स्थान पर 'जननी', 'भगिनी' या 'पुत्री' शब्द का प्रयोग सम्भव है ?

नहीं, कदापि नहीं। क्योंकि फिर उसका रूप निम्नानुसार हो जावेगा, जो हमें कदापि स्वीकार नहीं हो सकता।

'संसार में विष-वेल जननी, तज गये योगीश्वरा।'

या

'संसार में विष-वेल भगिनी, तज गये योगीश्वरा।'

या

'संसार में विष-वेल पुत्री, तज गये योगीश्वरा।'

यदि नारी शब्द से कवि का आशय माता, बहिन या पुत्री नहीं है तो फिर क्या है ?

स्पष्ट है कि 'नारी' शब्द का आशय नर के हृदय में नारी के लक्ष्य से उत्पन्न होने वाले भोग के भाव से है। इसीप्रकार उपलक्षण से नारी के हृदय में नर के लक्ष्य से उत्पन्न होने वाले भोग के भाव भी अपेक्षित हैं।

यहाँ विपरीत सेक्स के प्रति आकर्षण के भाव को ही विष-वेल कहा गया है, चाहे वह पुरुष के हृदय में उत्पन्न हुआ हो, चाहे स्त्री के हृदय में। और उसे त्यागने वाले को ही योगीश्वर कहा गया है, चाहे वह स्त्री हो, चाहे पुरुष। मात्र शब्दों पर न जाकर, शब्दों की अदला-बदली का अनर्थक प्रयास छोड़कर, उनमें समाये भावों को हृदयंगम करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

यदि हम शब्दों की हेरा-फेरी के चक्कर में पड़े तो कहाँ-कहाँ बदलेंगे, क्या-क्या बदलेंगे ? हमें अधिकार भी क्या है दूसरों की कृति में हेरा-फेरी करने का।

उक्त पंक्तियों में कवि का परम पावन उद्देश्य अब्रह्म से हटाकर ब्रह्म में लीन होने की प्रेरणा देने का है। हमें भी उनके भाव को पवित्र हृदय से ग्रहण करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मरमणता साक्षात् धर्म है, सर्वोत्कृष्ट धर्म है। सभी आत्माएँ ब्रह्म के शुद्धस्वरूप को जानकर, पहिचानकर – उसी में जम जांय, रम जांय, और अनन्तकाल तक तद्रूप परिणमित रहकर अनन्त सुखी हों, इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

—ooo—

क्षमावाणी

दशलक्षण महापर्व के तत्काल वाद मनाया जानेवाला क्षमावाणी पर्व एक ऐसा महापर्व है, जिसमें हम वैर-भाव को छोड़कर एक-दूसरे से क्षमायाचना करते हैं; एक-दूसरे के प्रति क्षमाभाव धारण करते हैं। इसे क्षमापना भी कहा जाता है।

मनोमालिन्य धो डालने में समर्थ यह महापर्व आज मात्र शिष्टाचार वनकर रह गया है। यह वात नहीं कि हम इसे उत्साह से न मनाते हों, इससे उदास हो गये हों। आज न हम इससे उदास हुए हैं; तथा मात्र उत्साह से ही नहीं, इसे अति उत्साह से मनाते हैं।

इस अवसर पर सारे भारतवर्ष में लाखों रुपयों के वहुमूल्य कार्ड छपाये जाते हैं, उन्हें चित्रित सुन्दर लिफाफों में रखकर हम इष्टमित्रों को भेजते हैं; लोगों से गले लगकर मिलते हैं, क्षमायाचना भी करते हैं; पर यह सब यंत्रवत् चलता है। हमारे चेहरे पर मुस्कान भी होती है, पर वनावटी। हमारी असलियत न मालूम कहाँ गायव हो गई है? विमान-परिचारिकाओं की भाँति हम भी नकली मुस्कराने में ट्रेन्ड हो गये हैं।

हम माफी मांगते हैं; पर उनसे नहीं जिनसे मांगना चाहिये, जिनके प्रति हमने अपराध किए हैं; अनजाने में ही नहीं, जान-वूझकर; हमें पता भी है उनका, पर……। हम क्षमावाणी कार्ड भी भेजते हैं, पर उन्हें नहीं जिन्हें भेजना चाहिए; चुन-चुनकर उन्हें भेजते हैं, जिनके प्रति न तो हमने कोई अपराध किए हैं और न जिन्होंने हमारे प्रति ही कोई अपराध किया है। आज क्षमा भी उन्हीं से मांगी जाती है जिनसे हमारे मित्रता के संवंध हैं, जिनके प्रति अपराध-वोध भी हमें कभी नहीं हुआ है। वतायें जरा, वास्तविक शत्रुओं से कौन क्षमा मांगता है? उन्हें कौन-कौन क्षमावाणी कार्ड डालते हैं। क्षमा करने-कराने के वास्तविक अधिकारी तो वे ही हैं। पर उन्हें कौन पूछता है?

वड़े कहलाने वाले वहुधंधी लोगों की स्थिति तो और भी विचित्र हो गई है। उनके यहाँ एक लिस्ट तैयार रहती है—जिसके अनुसार

शादी के निमंत्रण कार्ड भेजे जाया करते हैं; उसी लिस्ट के अनुसार कर्मचारीगण क्षमावाणी कार्ड भी भेज दिया करते हैं। भेजने वाले को पता ही नहीं रहता कि हमने किस-किस से क्षमायाचना की है।

यही हाल उनका भी रहता है – जिनके पास वे कार्ड पहुँचते हैं। उनके कर्मचारी प्राप्त कर लेते हैं। यदि कभी फुर्सत हुई तो वे भी एक निगाह डाल लेते हैं कि किन-किन के क्षमावाणी कार्ड आये हैं। उनमें क्या लिखा है, यह पढ़ने का प्रयत्न वे भी नहीं करते। करें भी क्यों ? क्या कार्ड डालने वाले को भी पता है कि उसमें क्या लिखा है ? क्या उसने भी वह कार्ड पढ़ा है ? लिखने की वात तो वहुत दूर।

वाजार से वना-वनाया ड्राफ्ट और छपा-छपाया कार्ड लाया गया है, पते अवश्य लिखने पड़े हैं। यदि वे भी किसी प्रकार छपे-छपाये मिल जाते होते तो उन्हें भी लिखने का कष्ट कौन करता ? कदाचित् यदि उसमें प्रेस की गलती से गालियाँ छप जावे तो भी कोई चिन्ता की वात नहीं है। चिन्ता तो तव हो जव कोई उसे पढ़े। जव उसे कोई पढ़ने वाला ही नहीं – सव उसका कागज, प्रिंटिंग, गेटअप ही देखेंगे, फिर चिन्ता किस वात की ?

करे भी क्या ? आज का आदमी इतना व्यस्त हो गया है कि उसे कहाँ फुर्सत है – यह सव करने की ? स्वयं पत्र लिखे भी तो कितनों को ? व्यवहार भी तो इतना वढ़ गया है कि जिसका कोई हिसाव नहीं। वस सव-कुछ यों ही चल रहा है।

क्षमायाचना जो कि एकदम व्यक्तिगत चीज थी, आज वाजारू वन गई है। क्षमायाचना या क्षमाकरना एक इतना महान कार्य है, इतना पवित्र धर्म है कि जो जीव का जीवन वदल सकता है; वदल क्या सकता है, सहीरूप में क्षमा करने और क्षमा माँगनेवाले का जीवन वदल जाता है। पर न मालूम आज का यह दोपाया कैसा चिकना घड़ा हो गया है कि इस पर पानी ठहरता ही नहीं। इसकी 'कारी कामरी' पर कोई दूसरा रंग चढ़ता ही नहीं।

वड़े-वड़े महापर्व आते हैं, वड़े-वड़े महान संत आते हैं, और यों ही चले जाते हैं; उनका इस पर कोई असर नहीं पड़ता। यह वरावर अपनी जगह जमा रहता है। इसने वीसों क्षमावाणी मना डाली, फिर भी अभी वीस-वीस वर्ष पुरानी शत्रुता वैसी की वैसी कायम है, उसमें जरा भी तो हीनता नहीं आई है।

धन्य है इसकी वीरता को। कहता है 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'। अनेकों क्षमावाणियाँ वीत गईं, पर इसकी वीरता नहीं वीती। अभी भी ताल ठोककर तैयार है– लड़ने के लिए, मरने के लिए। और तो और – क्षमा माँगने के मुद्दे पर भी लड़ सकता है, क्षमा माँगते-माँगते लड़ सकता है, क्षमा नहीं माँगने पर भी लड़ सकता है, वलात् क्षमा माँगने को वाध्य भी कर सकता है।

इसमें न मालूम कैसा विचित्र सामर्थ्य पैदा हो गया है कि माफी मांगकर भी अकड़ा रह सकता है, माफ करके भी माफ नहीं कर सकता है। कभी-कभी तो माफी भी अकड़कर माँगता है और माफी माँग लेने का रोव भी दिखाता है।

मेरे एक सहपाठी की विचित्र आदत थी। वह वड़ी अकड़ के साथ, वड़े गौरव से माफी मांगा करता था और तत्काल फिर उसी मुद्दे पर अकड़ने लगता था। वह कहता – गलती की तो क्या हो गया? माफी भी तो मांग ली है, अव अकड़ता क्यों है?

इस तरह वात करता कि जैसे उसने माफी माँगकर वहुत वड़ा अहसान किया है। उस अहसान का आपको अहसानमन्द होना चाहिए।

जिनसे झगड़ा हुआ हो, एक तो हम लोग उन लोगों से क्षमा-याचना करते ही नहीं। कदाचित् हमारे इष्टमित्र सद्भाव वनाने के लिए उनसे क्षमा मांगने की प्रेरणा देते हैं, वाध्य करते हैं, तो हम अनेक शर्तें रख देते हैं। कहते हैं – "उससे भी तो पूछो कि वह भी क्षमा माँगने या क्षमा करने को तैयार है या नहीं?"

यदि वह भी तैयार हो जाता है तो फिर इस वात पर वात अटक जाती है कि पहिले क्षमा कौन मांगे? इसका भी कोई रास्ता निकाल लिया जावे तो फिर क्षमा माँगने और करने की विधि पर झगड़ा होने लगता है – क्षमा लिखित मांगी जावे या मौखिक।

यदि यह मसला भी किसी प्रकार हल कर लिया जावे तो फिर क्षमा मांगने की भाषा तय करना कोई आसान काम नहीं है। मांगने वाला इस भाषा में क्षमा मांगेगा कि "मैंने कोई गलती तो की नहीं है, फिर भी आप लोग नहीं मानते हैं तो मैं क्षमा मांगने को तैयार हूँ लेकिन………।" – कहकर कोई नई शर्त जोड़ देता है।

इस पर क्षमादान करने वाला अकड़ जाएगा, कहेगा – "पहिले अपराध स्वीकार करो, वाद में माफ करूँगा।"

इसप्रकार लोग कभी न किये गये अपराध के लिए क्षमा माँगेंगे और क्षमा करने वाला अस्वीकृत अपराध को क्षमा करने के लिए तैयार न होगा। यदि कदाचित् भाषा के महापण्डित मिल-जुलकर कोई ऐसा ड्राफ्ट बना लावें कि जिससे 'सांप भी मर जावे और लाठी भी न टूटे' तो फिर इस बात पर झगड़ा हो सकता है कि क्षमा आदान-प्रदान का स्थान कौनसा हो ?

इन सब बातों को निपटाकर यदि क्षमायाचना या क्षमाप्रदान कार्यक्रम समारोह सानन्द सम्पन्न भी हो जावे, तो भी क्या भरोसा कि यह क्षमाभाव कब तक कायम रहेगा ? कायम रहने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? जब हृदय में क्षमाभाव आया ही नहीं, सब-कुछ कागज में या वाणी में ही रह गया है।

इसप्रकार की क्षमावाणी क्या निहाल करेगी? यह भी एक विचार करने की बात है।

'क्षमा करना, क्षमा करना' रटते लोग तो पग-पग पर मिल जावेंगे; किन्तु हृदय से वास्तविक क्षमायाचना करने वाले एवं क्षमा करने वालों के दर्शन आज दुर्लभ हो गये हैं। क्षमावाणी का सही रूप तो यह होना चाहिए कि हम अपनी गलतियों का उल्लेख करते हुए विनयपूर्वक आमने-सामने या पत्र द्वारा शुद्ध हृदय से क्षमायाचना करें एवं पवित्रभाव से दूसरों को क्षमा करें अर्थात् क्षमाभाव धारण करें।

आप सोच सकते हैं कि इस पावन अवसर पर मैं भी क्या बात ले बैठा ? पर मैं जानना चाहता हूँ कि क्या कभी आपने क्षमावाणी के बाद – जबकि आपने अनेकों को क्षमा किया है, अनेकों से क्षमा मांगी है, आत्मनिरीक्षण किया है ? यदि नहीं, तो अब करके देखिये कि क्या आपके जीवन में भी कोई अन्तर आया है या जैसा का तैसा ही चल रहा है ? यदि जैसा का तैसा ही चल रहा है तो फिर मेरी बात की सत्यता पर एक बार गंभीरता से विचार कीजिए, उसे ऐसे ही बातों में न उड़ा दीजिए। क्या मैं आशा करूँ कि आप इस ओर ध्यान देंगे ? देंगे तो कुछ लाभ उठायेंगे, अन्यथा जैसा चल रहा है वैसा तो चलता ही रहेगा, उसमें तो कुछ आना-जाना है नहीं।

क्षमावाणी का वास्तविक भाव तो यह था कि पर्वराज पर्यूषण में दशधर्मों की आराधना से हमारा हृदय क्षमाभाव से आकण्ठ-आपूरित हो उठना चाहिए। और जिसप्रकार घड़ा जब आकण्ठ-आपूरित हो

जाता है तो फिर उवलने लगता है, छलकने लगता है; इसीप्रकार जब हमारा हृदयघट क्षमाभावादिजल से आकण्ठ-आपूरित हो उठे, तब वही क्षमाभाव वाणी में भी छलकने लगे, झलकने लगे; तभी वह वस्तुतः वाणी की क्षमा अर्थात् क्षमावाणी होगी। किन्तु आज तो क्षमा मात्र हमारी वाणी में रह गई, अन्तर से उसका सम्वन्ध ही नहीं रहा है।

हम क्षमा-क्षमा वाणी से तो वोलते हैं, पर क्षमाभाव हमारे गले के नीचे नहीं उतरता। यही कारण है कि हमारी क्षमायाचना कृत्रिम हो गई है, उसमें वह वास्तविकता नहीं रह गई है–जो होनी चाहिए थी या वास्तविक क्षमाधारी के होती है।

ऊपर-ऊपर से हम वहुत मिठवोले हो गये हैं। हृदय में द्वेषभाव कायम रखकर हम छल से ऊपर-ऊपर से क्षमायाचना करने लगे हैं।

मायाचारी के क्रोध, मान वैसे प्रकट नहीं होते जैसे कि सरल स्वभावी के हो जाते हैं। प्रकट होने पर उनका वहिष्कार, परिष्कार संभव है; पर अप्रकट की कौन जाने? अतः क्षमाधारक को शान्त और निरभिमानी होने के साथ सरल भी होना चाहिए।

कुटिल व्यक्ति क्रोध-मान को छिपा तो सकता है, पर क्रोध-मान का अभाव करना उसके वश की वात नहीं है। क्रोध-मान को दवाना और वात है तथा हटाना और। क्रोध-मानादि को हटाना क्षमा है, दवाना नहीं।

यहाँ आप कह सकते हैं कि क्षमा तो क्रोध के अभाव का नाम है; क्षमाधारक को निरभिमानी भी होना चाहिए, सरल भी होना चाहिए आदि शर्तें क्यों लगाते जाते हैं?

यद्यपि क्षमा क्रोध के अभाव का नाम है; तथापि क्षमावाणी का संवंध मात्र क्रोध के अभावरूप क्षमा से ही नहीं, अपितु क्रोधमानादि विकारों के अभावरूप क्षमामार्दवादि दशों धर्मों की आराधना एवं उससे उत्पन्न निर्मलता से है।

क्षमा माँगने में वाधक क्रोधकषाय नहीं, अपितु मानकषाय है। क्रोधकषाय क्षमा करने में वाधक हो सकती है, क्षमा माँगने में नहीं।

जब हम कहते हैं :–

"खामेमि सव्व जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वैरं मज्झं ण केण वि॥"

सब जीवों को मैं क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा कर सब जीवों से मेरा मैत्रीभाव रहे, किसी से भी वैरभाव न हो।"

तब हम 'मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ,' कहकर क्रोध के त्याग का संकल्प करते हैं या क्रोध के त्याग की भावना भाते हैं तथा 'सब जीव मुझे क्षमा करें' कहकर मान के त्याग का संकल्प करते हैं या मान के त्याग की भावना भाते हैं। इसीप्रकार सब जीवों से मित्रता रखने की भावना मायाचार के त्यागरूप सरलता प्राप्त करने की भावना है।

इसलिए क्षमावाणी को मात्र क्रोध के त्याग तक सीमित करना उचित नहीं।

एक बात यह भी तो है कि इस दिन हम क्षमा करने के स्थान पर क्षमा मांगते अधिक हैं। भले ही उक्त छन्द में 'मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ' वाक्य पहले हो, पर सामान्य व्यवहार में हम यही कहते हैं – 'क्षमा करना'। यह कोई कहता दिखाई नहीं देता कि 'क्षमा किया'। इसे 'क्षमायाचना' दिवस के रूप में ही देखा जाता है, 'क्षमाकरना' दिवस के रूप में नहीं।

क्षमायाचना मानकषाय के अभाव में होने वाली प्रवृत्ति है। अतः क्यों न इसे मार्दववाणी कहा जाये? पर सभी इसे क्षमावाणी ही कहते हैं। एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि दशलक्षण महापर्व के बाद मनाया जाने वाला यह उत्सव प्रतिवर्ष क्षमादिवस के रूप में ही क्यों मनाया जाता है? एक वर्ष क्षमादिवस, दूसरे वर्ष मार्दवदिवस, तीसरे वर्ष आर्जवदिवस आदि के रूप में क्यों नहीं? क्योंकि धर्म तो दशों ही एक समान हैं। क्षमा को ही इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया जाता है?

भाई! यह प्रश्न तो तब उठाया जा सकता है जबकि क्षमावाणी का अर्थ मात्र क्षमावाणी हो। क्षमावाणी का वास्तविक अर्थ तो क्षमादिवाणी है। क्षमा आदि दशों धर्मों की आराधना से आत्मा में उत्पन्न निर्वैरता, कोमलता, सरलता, निर्लोभता, सत्यता, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मलीनता से उत्पन्न समग्र पवित्रभाव का वाणी में प्रकटीकरण ही वास्तविक क्षमावाणी है। जब तक भूमिकानुसार दशों धर्म हमारी परिणति में नहीं प्रकटेंगे तबतक क्षमावाणी का वास्तविक लाभ हमें प्राप्त नहीं होगा।

अब रह जाती है मात्र यह बात कि फिर इसका नाम अकेली क्षमा पर ही क्यों रखा गया है ? सो इसका समाधान यह है कि क्या इतना बड़ा नाम रखने का प्रयोग सफल होता ? क्या इतना बड़ा नाम सहज ही सब की जबान पर चढ़ सकता था ? नहीं, बिल्कुल नहीं।

अतः जिसप्रकार अनेक भाइयों या भागीदारों का बराबर भाग रहने पर भी फर्म या कम्पनी का नाम प्रथम भाई के नाम पर रख दिया जाता है, एक भाई का नाम रहने पर भी सबके स्वामित्व में कोई अंतर नहीं पड़ता; उसीप्रकार क्षमा का नाम रहने पर क्षमावाणी में दशों धर्म समा जाते हैं।

यहाँ एक प्रश्न यह भी संभव है कि जिसके नाम की दुकान होगी, सामान्य लोग तो यही समझेंगे कि दुकान उसी की है।

यह बात ठीक है, स्थूलबुद्धि वालों को ऐसा भ्रम प्रायः हो जाता है; पर समझदार लोग सब सही ही समझते हैं। इसीकारण तो क्षमावाणी को स्थूलबुद्धि वाले मात्र क्षमावाणी ही समझ लेते हैं, क्षमादिवाणी नहीं समझ पाते। पर जब समझदार लोग समझाते हैं तो सामान्य लोगों की भी समझ में आजाता है। इसीलिए तो इतना स्पष्टीकरण किया जा रहा है। यदि इस भ्रम की संभावना नहीं होती तो फिर इतने स्पष्टीकरण की आवश्यकता क्यों रहती ?

दुनियादारी में तो आज का आदमी बहुत चतुर हो गया है। क्या देश में जितने भी मिल, दुकानें गांधीजी के नाम पर हैं, उन सबके मालिक गांधीजी हैं ? नहीं, बिल्कुल नहीं, और यह बात सब अच्छी तरह समझते भी हैं। पर न मालूम आध्यात्मिक मामलों में इसप्रकार के भ्रमों में क्यों उलझ जाते हैं ? वस्तुतः बात तो यह है कि आध्यात्मिक मामलों में कोई भी व्यक्ति दिमाग पर वजन ही नहीं डालना चाहता। गहराई से सोचता ही नहीं है तो समझ में कैसे आवे ? यदि सामान्य व्यक्ति भी थोड़ा-सा भी गहराई से विचार करे तो सब समझ में आ सकता है।

दशलक्षण महापर्व के समान क्षमावाणी उत्सव भी वर्ष में तीन बार मनाया जाना चाहिए; पर जब दशलक्षणपर्व भी तीन बार नहीं मनाया जाता है तो फिर इसे कौन मनावे ? अस्तु जो भी हो, पर वर्ष में एक बार तो हम इसे बड़े उत्साह से मनाते ही हैं। इस कारण भी इसका महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि मनोमालिन्य और वैरभाव धोने-मिटाने का अवसर एक बार ही प्राप्त होता है।

वर्ष में तीन वार क्षमावारणी आने का भी कारण है। और वह यह कि अप्रत्याख्यान कषाय छः माह से अधिक नहीं रहती। यदि अधिक रहे तो समझना चाहिए कि वह अनन्तानुवंधी है। अनन्तानुवंधी कषाय अनंत संसार का कारण है। अतः यदि क्षमावाणी छः माह के भीतर ही हो जावे और उसके निमित्त से हम छः माह के भीतर ही क्रोधमानादि कषायभावों को धो डालें तो बहुत अच्छा रहे।

वैरभाव तो एक दिन भी रखने की वस्तु नहीं है। प्रथम तो वैरभाव धारण ही नहीं करना चाहिए। यदि कदाचित् हो भी जावे तो उसे तत्काल मिटा देना चाहिए। इसके वाद भी यदि रह जाय तो फिर क्षमावाणी के दिन तो मन साफ हो ही जाना चाहिए।

इसमें एक वात और भी विचारणीय है। वह यह कि इसे हमने मनुष्यों तक ही सीमित कर रखा है, जवकि आचार्यों ने इसे जीवमात्र तक विस्तार दिया है।

वे यह नहीं लिखते :–

'खामेमि सव्व जैनी, सव्वे जैनी खमन्तु मे।'

या

'खामेमि सव्व मनुजा, सव्वे मनुजा खमन्तु मे।'

वल्कि यह लिखते हैं :–

'खामेमि सव्व जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे।'

वे सव जैनियों या सर्व मनुष्यों मात्र से क्षमा मांगने या क्षमा करने की वात न करके सव जीवों को क्षमा करने और सव जीवों से क्षमा मांगने की वात करते हैं। इसीप्रकार वे मात्र जैनियों या मनुष्यों से मित्रता नहीं चाहते, किन्तु प्राणीमात्र से मित्रता की कामना करते हैं। उनका दृष्टिकोण संकुचित नहीं, विशाल है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जव कोई जीव हमसे क्षमा मांगे ही नहीं, तो हम उसे कैसे क्षमा करें? तथा हम उससे क्या क्षमा मांगें, जो हमारी वात समझ ही नहीं सकता। जो हमारी वात समझ ही नहीं सकता, वह हमें क्या क्षमा करेगा, कैसे क्षमा करेगा? – इस प्रकार एकेन्द्रियादि जीवों से क्षमा मांगना और उन्हें क्षमा करना कैसे संभव है?

क्षमायाचना या क्षमाकरना दो प्राणियों की सम्मिलित (Combined) क्रिया नहीं है, यह एकदम व्यक्तिगत चीज है, स्वाधीन

(Independent) किया है। क्षमावाणी एक धार्मिक परिणति है, आध्यात्मिक क्रिया है। उसमें पर के सहयोग एवं स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती। यदि हम क्षमाभाव धारण करना चाहते हैं, तो उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि जब कोई हमसे क्षमायाचना करे, तब ही हम क्षमा कर सकें अर्थात् क्षमा धारण कर सकें। अपराधी द्वारा क्षमायाचना नहीं किये जाने पर भी उसे क्षमा किया जा सकता है। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर क्षमा धारण करना भी पराधीन हो जाता। यदि किसी ने हमसे क्षमायाचना नहीं की, तो उसने स्वयं की मानकषाय का त्याग नहीं किया और यदि हमने उसके द्वारा क्षमायाचना किए बिना ही क्षमा कर दिया तो हमने अपने क्रोधभाव का त्याग कर उसका नहीं, अपना ही भला किया है।

इसीप्रकार हमारे द्वारा क्षमायाचना करने पर भी यदि कोई क्षमा नहीं करता है, तो क्रोध का त्याग नहीं करने से उसका ही बुरा होगा। हमने तो क्षमायाचना द्वारा मान का त्याग कर, अपने में मार्दव-धर्म प्रकट कर ही लिया। उसके द्वारा क्षमा नहीं करने से, क्षमा माँगने से होने वाले लाभ से हम वंचित नहीं रह सकते।

यही कारण है कि आचार्यों ने अन्य जीवों द्वारा क्षमायाचना की प्रतीक्षा किए बिना ही सब जीवों को अपनी ओर से क्षमा करके तथा 'कोई क्षमा करेगा या नहीं' – इस विकल्प के बिना ही सबसे क्षमा-याचना करके अपने अन्तःस्थल में उत्तमक्षमामार्दवादि धर्मों को धारण कर लिया।

कोई जीव हमसे क्षमा मांगे, चाहे नहीं; हमें क्षमा करे, चाहे नहीं; हम तो अपनी ओर से सबको क्षमा करते हैं और सबसे क्षमा मांगते हैं – इसप्रकार हम तो अब किसी के शत्रु नहीं रहे और न हमारी दृष्टि में कोई हमारा शत्रु रहा है। जगत हमें शत्रु मानो तो मानो, जानो तो जानो; हमें इससे क्या ? और हमारा दूसरे की मान्यता पर अधिकार भी क्या है ?

हम तो अपनी मान्यता सुधार कर अपने में जाते हैं, जगत को जगत जाने – ऐसी वीतराग परिणति का नाम ही सच्चे अर्थों में क्षमावाणी है।

क्षमावाणी का सही स्वरूप नहीं समझ पाने के कारण उसके प्रस्तुतीकरण में भी अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो गई हैं।

कुछ दिन पूर्व एक चित्र-प्रतियोगिता हुई थी, जिसमें क्षमावाणी को चित्र के माध्यम से प्रस्तुत करना था। सर्वोत्तम चित्र के लिये प्रथम पुरस्कार प्राप्त चित्र का जब प्रदर्शन किया गया तब चित्रकार के साथ-साथ निर्णायकों की समझ पर भी तरस आये बिना न रहा।

'क्षमा वीरस्य भूषणम्' के प्रतीकरूप में दिखाए गये चित्र में एक पौराणिक महापुरुष द्वारा एक अपराधी का वध चित्रित था। उसका जो स्पष्टीकरण किया जा रहा था, उसका भाव कुछ इस प्रकार था :–

"उक्त महापुरुष ने अपराधी के सौ अपराध क्षमा कर दिये, पर जब उसने एक सौ एकवाँ अपराध किया तो उसका सिर धड़ से अलग कर दिया।"

क्षमा के चित्रण में हत्या के प्रदर्शन का औचित्य सिद्ध करते हुए कहा जा रहा था :–

"यदि वे एक सौ एकवें अपराध के बाद भी उसको नहीं मारते तो फिर वे कायर समझे जाते। कायर की क्षमा कोई क्षमा नहीं है; क्योंकि क्षमा तो वीर का भूषण है।

सौ अपराधों को क्षमा करने से तो क्षमा सिद्ध हुई और मार डालने से वीरता। इसप्रकार यह 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' का सर्वोत्कृष्ट प्रस्तुतीकरण है। यही कारण है कि इन्हें क्षमावाणी के अवसर पर तदर्थ प्रथम पुरस्कार दिया जा रहा है।"

क्षमा के साथ हिंसा की संगति ही नहीं, औचित्य सिद्ध करने वालों से मुझे कुछ नहीं कहना है। मैं तो मात्र यह कहना चाहता हूँ कि इस पौराणिक आख्यान को क्षमा का रूपक देने वालों ने इस तथ्य की ओर ध्यान क्यों नहीं दिया कि उनकी क्षमा क्रोधादि कषायों के अभावरूप परिणति का परिणाम नहीं थी, वरन् वे सौ अपराधों को क्षमा करने के लिये वचनबद्ध थे। उनकी वचनपालन की दृढ़ता और तत्सम्बन्धी धैर्य तो प्रशंसनीय हैं, परन्तु उसे उत्तमक्षमा का प्रतीक कैसे माना जा सकता है?

दूसरी बात यह भी तो है कि क्या सच्चे क्षमाधारक की दृष्टि में कोई दूसरा भी अपराध हो सकता है? जब उसने प्रथम अपराध क्षमा ही कर दिया, तब अगला अपराध दूसरा कैसे कहा जा सकता है? यदि उसे दूसरा कहें तो पहले को वह भूला कहाँ? जब प्रथम

अपराध को क्षमा करने के वाद भी उसे भूल नहीं पाया तो फिर क्षमा ही क्या किया ?

वस्तुतः वात यह है कि हमारी परिणति तो क्रोधादिमय हो रही है और शास्त्रों में क्षमादि को अच्छा कहा है; अतः हम शास्त्रानुसार अच्छा वनने के लिए नहीं, वरन् अच्छा दिखने के लिए किसी क्रोध के रूप को ही क्षमा का नाम देकर क्षमाधारी वनना चाहते हैं।

क्षमाभाव का सर्वोत्कृष्ट चित्रण तो –

अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-काँच, निंदन-थुति करन।
अर्घावतारन – असिप्रहारन में सदा समता धरन॥[1]

ऐसी स्थिति को प्राप्त समताधारी मुनिराज का चित्रण ही हो सकता है।

क्षमा कायरता नहीं, क्षमा धारण करना कायरों का काम भी नहीं; पर वीरता भी तो मात्र दूसरों को मारने का नाम नहीं है, दूसरों को जीतने का नाम भी नहीं। अपनी वासनाओं को, कषायों को मारना; विकारों को जीतना ही वास्तविक वीरता है। युद्ध के मैदान में दूसरों को जीतने वाले, मारने वाले युद्धवीर हो सकते हैं; धर्मवीर नहीं। धर्मवीर ही क्षमाधारक हो सकता है; युद्धवीर नहीं।

वीरता के क्षेत्र को भी हमने संकुचित कर दिया है। अव वीरता हमें युद्धों में ही दिखाई देती है; शांति के क्षेत्र में भी वीरता प्रस्फुटित हो सकती है, यह हमारी समझ में ही नहीं आता। यही कारण है कि हमें 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' को स्पष्ट करने के लिए हत्या दिखाना आवश्यक लगता है। हत्या दिखाये विना वीरता का प्रस्तुतीकरण हमें संभव ही नहीं लगता।

जिस महापुरुष की लेखनी से यह महावाक्य प्रस्फुटित हुआ होगा, उसने सोचा भी न होगा कि इसकी ऐसी भी व्याख्या की जावेगी। एक हत्या भी क्षमा का एवं वीरता का प्रतीक वन जावेगी।

एक वात यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिन दशधर्मों की आराधना के वाद यह क्षमावाणी महापर्व आता है, उनकी चर्चा आचार्य उमास्वामी ने मुनिधर्म के प्रसंग में की है। दशधर्मों की आराधना का समग्र प्रतिफलन जिस क्षमावाणी में प्रस्फुटित होता है,

---

[1] पं० दौलतरामजी : छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ६

वह क्षमावाणी कैसी होती होगी या होनी चाहिए – यह गम्भीरता से विचारने की वस्तु है ।

उसे मुनिराज पार्श्वनाथ की उस उपसर्गावस्था में भली-भाँति देखा जा सकता है, जिसमें कमठ का उपसर्ग और धरणेन्द्र द्वारा उपसर्ग निवारण किया जा रहा था और पार्श्वनाथ का दोनों के प्रति समभाव था ।

कहा भी है :–

> कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति ।
> प्रभुस्तुल्य मनोवृत्तिः पार्श्वनाथः जिनोस्तु नः ।।

अथवा उन मुनिराज के रूप में चित्रित की जा सकती है जो कि गले में मरा साँप डालने वाले राजा श्रेणिक और उस उपसर्ग को दूर करने वाली रानी चेलना को एक-सा आशीर्वाद देते हैं ।

क्षमा के वास्तविक पौराणिकरूप तो ये हैं । क्या पार्श्वनाथ की वीरता में शंका की जा सकती है ? नहीं, कदापि नहीं । इसीप्रकार वे मुनिराज भी क्या कम धीर-वीर थे जो उपसर्ग विजयी रहे । उपसर्गों में भी समता धारण किए रहना क्या कायरों का काम है ?

'क्षमा कायरों का धर्म न कहा जाने लगे' – इस भय से कहीं ऐसा न हो जावे कि हम उसे क्षमा ही न रहने दें ।

जिस अपराध के लिए क्षमायाचना की गई है, यदि वही अपराध हम निरंतर दुहराते रहे तो फिर उस क्षमायाचना से भी क्या लाभ ? जिस अपराध के लिए हम क्षमायाचना कर रहे हैं, वह अपराध हमसे दुवारा न हो – इसके लिए यदि हम प्रतिज्ञावद्ध न भी हो सकें तो संकल्पशील या कम से कम प्रयत्नशील तो हमें होना ही चाहिये । अन्यथा यह सब गजस्नानवत् निष्फल ही रहेगा ।

क्षमायाचना और क्षमादान – ये दोनों ही वृत्तियाँ हृदय को हल्का करने वाली उदात्त वृत्तियाँ हैं, वैरभाव को मिटाकर परमशान्ति प्रदान करने वाली हैं । प्रदान करने वाली भी क्या, अन्तर में प्रकट शान्ति का प्रतिफलन ही हैं ।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विशेष ध्यान देने योग्य वात यह है कि इस अज्ञानी आत्मा ने दूसरों से तो अनेकों वार क्षमायाचना की है, दूसरों को ही अनेकों वार क्षमाप्रदान भी की है, पर आजतक स्वयं से न तो क्षमायांचना ही की है और न स्वयं को क्षमा ही किया है । इसीलिए अनंत दुखी भी है ।

यहाँ आप कह सकते हैं कि स्वयं से क्या क्षमा माँगना और स्वयं को क्षमा करना भी क्या ? पर भाई साहब ! आप यह क्यों भूल जाते हैं कि क्या आपने अपने प्रति कम अपराध किए हैं ? कम अन्याय किये हैं ? क्या अपने प्रति आपने कुछ कम क्रोध किया है ? क्या आपने अपना कुछ कम अपमान किया है ? इस तीनलोक के नाथ को विषयों का गुलाम और दर-दर का भिखारी नहीं बना दिया है ? इसे अनंत दुःख नहीं दिये हैं ? क्या इसकी आपने आज तक सुध भी ली है ?

ये हैं वे कुछ महान् अपराध जो आपने अपनी आत्मा के प्रति किए हैं और जिनकी सजा आप स्वयं अनंतकाल से भोग रहे हैं। जब तक आप स्वयं अपने आत्मा की सुध-बुध नहीं लेंगे, उसे नहीं जानेंगे, नहीं पहिचानेंगे, उसमें ही नहीं जम जायेंगे, नहीं रम जायेंगे, तब तक इन अपराधों और अशान्ति से मुक्ति मिलने वाली नहीं है।

निजात्मा के प्रति अरुचि ही उसके प्रति अनन्त क्रोध है। जिसके प्रति हमारे हृदय में अरुचि होती है, उसकी उपेक्षा हमसे सहज ही होती रहती है। अपनी आत्मा को क्षमा करने और उससे क्षमा माँगने का आशय मात्र यही है कि हम उसे जानें, पहिचानें और उसीमें रम जांय। स्वयं को क्षमा करने और स्वयं से क्षमा मांगने के लिए वाणी की औपचारिकता की आवश्यकता नहीं है। निश्चयक्षमावाणी तो स्वयं के प्रति सजग हो जाना ही है, उसमें पर की अपेक्षा नहीं रहती। तथा आत्मा के आश्रय से क्रोधादिकषायों के उपशान्त हो जाने से व्यवहारक्षमावाणी भी सहज ही प्रस्फुटित होती है।

अतः दूसरों से क्षमायाचना करने एवं क्षमा करने के साथ-साथ हम स्वयं को भी क्षमाकर स्वयं में ही जम जांय, रम जांय और अनन्त शान्ति के सागर निजशुद्धात्मतत्त्व में निमग्न हो अनन्त काल तक अनन्त आनन्द में मग्न रहें – इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

अभिमत

लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं एवं विद्वानों की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन –

★ पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी (उ० प्र०)

श्री भारिल्लजी की विचार-सरणि और लेखन शैली दोनों ही हृदयग्राही हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ दशधर्मों पर इतना सुन्दर आधुनिक ढंग का विवेचन इससे पहिले मेरी दृष्टि में नहीं आया, इससे एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। दशलक्षण पर्व में प्राय: नवीन प्रवक्ता इसप्रकार की पुस्तक की खोज में रहते थे। ब्रह्मचर्य पर अन्तिम लेख मैंने पिछले आत्मधर्म में पढ़ा था, उसमें 'संसार में विषवेल नारी' का अच्छा विश्लेषण किया है। – कैलाशचन्द्र

★ पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी (म० प्र०)

दशधर्मों पर पंडितजी (डॉ० भारिल्ल) के विवेचन मैंने हिन्दी आत्मधर्म में भी पढ़े थे। मुझे उनको पढ़कर उसी समय बहुत प्रसन्नता का अनुभव हुआ था। नई पीढ़ी के विद्वानों में डॉ० भारिल्ल अग्रगण्य हैं। इनकी लेखनी को सरस्वती का वरदान है, ऐसा लगता है। डॉ० साहब ने साहित्य के क्षेत्र में इस पुस्तक पर सचमुच डॉक्टरी का प्रयोग किया है। दशधर्मों की औषधि का प्रयोग, दशविकारों की बीमारी का पूरा ऑपरेशन कर, बहुत सुन्दरता से किया है। इतना विशद् सांगोपाङ्ग वर्णन आधुनिक भाषा व आधुनिक शैली में अन्यत्र दिखाई नहीं देता। पुस्तक आज के युग में नये विद्वानों को दशधर्म का पाठ पढ़ाने को उत्तम है। भाषा प्रांजल है। एक बार शुरू करने पर पुस्तक छोड़ने को जी नहीं चाहता। विषय हृदय को छूता है। कई स्थल ऐसे हैं जिनका अच्छा विश्लेषण किया गया है। – जगन्मोहनलाल जैन शास्त्री

★ पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी (उ० प्र०)

जिसप्रकार आगम में द्रव्य के आत्मभूत लक्षण की दृष्टि से उसके दो लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, उनके द्वारा एक ही वस्तु कही गई है; उसीप्रकार धर्म के आत्मभूतस्वरूप की दृष्टि से आगम में धर्म के दशलक्षण निबद्ध किये गये हैं। उनके द्वारा वीतराग-रत्नत्रयधर्मस्वरूप एक ही वस्तु कही गई है, उनमें अन्तर नहीं है। 'धर्म के दशलक्षण' पुस्तक इसी तथ्य को हृदयंगम करने की दृष्टि से लिखी गई है। स्वाध्याय प्रेमियों को इस दृष्टि से इसका स्वाध्याय करना चाहिए। इससे उन्हें धर्म के स्वरूप को समझने में पर्याप्त सहायता मिलेगी। आपके इस सफल प्रयास के लिए आप अभिनन्दन के पात्र हैं। वर्तमान काल में दशलक्षण पर्व को पर्यूषण कहने की परिपाटी चल पड़ी है, किन्तु यह गलत परम्परा है। पर्व का सही नाम दशलक्षण पर्व है। हमें देखा-देखी छोड़कर वस्तुस्थिति को समझना चाहिए।........आप अपनी साहित्य सेवा से समाज को इसीप्रकार मार्ग-दर्शन करते रहें। – फूलचन्द्र शास्त्री

★ स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति पण्डिताचार्य, एम०ए०, शास्त्री, मूडबिद्री

समाजमान्य विद्वद्वर्य डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित 'धर्म के दशलक्षण' देखकर परम हर्ष हुआ। इसमें कोई दो राय नहीं है कि डॉ० भारिल्लजी सिद्धहस्त लेखक हैं और हैं प्रबुद्ध वक्ता।……उत्तमक्षमादि दशधर्मों का सूक्ष्म विश्लेषण सरल शैली में व्यक्त किया गया है। इस कर्तृत्व की सर्वोपरि विशिष्टता यह है कि इसमें दशधर्मों का तात्त्विक दृष्टि से सरस, सरल व सुबोध शैली से प्रतिपादन किया गया है। इस दृष्टि से दशधर्मों का विवेचन प्रायः अब तक देखने में नहीं आया है। दशधर्मों पर प्रस्तुत और भी जो कृतियाँ हैं, उनमें भी प्रायः तात्त्विक दृष्टि से विवेचन का पक्ष अगोचर ही रहा है। विद्वान लेखक ने उत्तमक्षमादि प्रत्येक धर्म पर तथ्यात्मक, रोचक व बहुत ही सुन्दर ढंग से सफल लेखनी चलाई है। नयनाभिराम मुद्रणादि से सम्पन्न प्रस्तुत 'धर्म के दशलक्षण' उपहार से पाठकों तथा समाज को सत्पथ का दिग्दर्शन तो होगा ही, साथ ही आत्मा के धर्म को पाने के लिए भी सम्यक् दिशा प्राप्त होगी। — चारुकीर्ति

★ पं० खीमचन्दभाई जेठालाल शेठ, सोनगढ़ (गुजरात)

आत्मा की पर्युपासना करने का महान मंगलमय पर्व ही पर्यूषण है। दशलक्षण धर्म की आराधना मुख्यतया पूज्य मुनिराजों द्वारा होती है, उसका स्पष्ट निर्देशन डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'धर्म के दशलक्षण' नामक पुस्तक में मिलता है। श्री शास्त्रीजी अभिनव दृष्टि से विचार करने वाले हैं, सब लेखों में उनके व्यक्तित्व का प्रभाव आनन्द का अनुभव कराता है। इस पुस्तक में उन्होंने दशधर्मों का विवेचन सर्वजन-संगत शैली से किया है, वह अतीव प्रशंसनीय है और इसके लिए वे अभिनन्दन के पात्र हैं। उनके सब लेख सर्वत्र-सर्वदा-सर्वथा सब को धर्म-आराधना में अत्यन्त सहायक होंगे। — खीमचन्द

★ पं० नन्हेलालजी, न्याय-सिद्धान्तशास्त्री, राजाखेड़ा (राजस्थान)

……डॉ० भारिल्ल ने अपनी प्रतिभागत तर्क-वितर्क की शैली से पुस्तक को अत्यधिक उपयोगी बनाया है।……मैं उनकी प्रगति से अत्यधिक प्रसन्न हूँ। साथ ही कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इससे भी अधिक उज्ज्वल और उन्नतशील बने। — नन्हेलाल शास्त्री

★ डॉ० दरबारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्य, वाराणसी (उ०प्र०)

……इसमें आपने अपनी सहज, अनुभवपूर्ण और समीक्षात्मक शैली से उक्त दशधर्मों का विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमें संदेह नहीं कि आपका प्रयत्न बहुत सफल हुआ है। कहीं-कहीं चुटकी भी ली है……पर वह चुटकी गलत नहीं है।……ब्रह्मचर्य का जो चित्रण किया है वह जी को लगता है और वह उचित प्रतीत होता है।……मुझे आशा है आपकी सन्तुलित लेखनी

द्वारा चारों अनुयोगों की उपयोगिता और महत्त्व पर भी एक ऐसी ही पुस्तक प्रस्तुत होगी। हार्दिक बधाई ! पुस्तक का प्रकाशन और साज-सज्जा भी उत्तम है। – दरबारीलाल कोठिया

★ डॉ० पन्नालालजी जैन, साहित्याचार्य, सागर, मंत्री, श्री भा०दि० जैन विद्वत्परिषद्

आकर्षक आवरण, हृदयहारी साजसज्जा, सरल, सुबोध भाषा और हृदय पर सद्यः प्रभाव करने वाली वर्णन शैली से पुस्तक का महत्त्व बढ़ गया है। इस सर्वोपयोगी प्रकाशन और लेखन के लिए धन्यवाद। – पन्नालाल जैन

★ श्री अगरचन्दजी नाहटा, बीकानेर (राजस्थान)

आत्मधर्म में जबसे दशलक्षणों सम्बन्धी भारिल्लजी की लेखमाला प्रकाशित होने लगी मैं रुचिपूर्वक उसे पढ़ता रहा। डॉ० भारिल्ल के मौलिक चिन्तन से प्रभावित भी हुआ। उन्होंने धर्म के दशलक्षणों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट किये हैं, अन्य कई बातें विचारोत्तेजक व मौलिक हैं। अब तक इन लक्षणों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा व लिखा जाता रहा है, पर मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करना सबके वश की बात नहीं है। डॉ० भारिल्ल में जो प्रतिभा और सूझ-बूझ है उसका प्रतिफलन इस विवेचन में प्रगट हुआ है। आशा है इससे प्रेरणा प्राप्त कर अन्य विद्वान भी नया चिन्तन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। डॉ० भारिल्ल ने जो प्रश्न उपस्थित किये हैं वे बहुत ही विचारणीय व मननीय हैं। धर्म और अध्यात्म के सम्बन्ध में उनका चिन्तन और भी गहराई में जावे और वे मौलिक तथ्य प्रकाशित करते रहें, यही शुभ कामना है। प्रस्तुत ग्रंथ का अधिकाधिक प्रचार वांछनीय है। प्रकाशन बहुत सुन्दर हुआ है और मूल्य भी उचित रखा गया है। – अगरचंद नाहटा

★ श्री अक्षयकुमारजी जैन, भूतपूर्व सम्पादक 'नवभारत टाइम्स', दिल्ली

........पुस्तक बहुत उपयोगी और सामयिक है। सीधी-सादी भाषा में धर्म के दशलक्षणों का सुन्दर विवेचन डॉ० भारिल्ल ने किया है। मैं आशा करता हूँ कि इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार होगा जिससे सामान्यजन को लाभ पहुँचेगा। – अक्षयकुमार जैन

★ पं० ज्ञानचंदजी 'स्वतंत्र', शास्त्री, न्यायतीर्थ, गंजबासौदा (विदिशा – म० प्र०)

डॉ० भारिल्लजी जैन-जगत के बहुचर्चित, बहुप्रसिद्ध, उच्चकोटि के विद्वान हैं। विद्वता के साथ-साथ आप प्रवर सुवक्ता, कुशल पत्रकार, ग्रंथ निर्माता, सुकवि भी हैं। दशलक्षण धर्म पर अनेक मुनियों, विद्वानों एवं त्यागियों ने छोटे-बड़े ग्रंथ एवं पुस्तकें लिखी हैं, पर उन सब में डॉ० भारिल्लजी द्वारा लिखित "धर्म के दशलक्षण" ग्रंथ सर्वोपरि है। इसमें आध्यात्मिक विद्या

(ब्रह्म विद्या) के आधार पर तात्त्विकी सैद्धान्तिक विवेचना की है। भाषा प्रांजल, सरल, सुबोध एवं सुरुचिपूर्ण है। आप कोई भी चेप्टर लेकर बैठ जाइए, जब तक पूरा न पढ़ लेंगे तब तक मन में अतृप्ति-सी बनी रहती है। इसी का नाम सत्-साहित्य है। आपकी यह सुन्दर, नूतन, मौलिक रचना पठनीय तो है ही, पर अनुभवन और मन्थन की भी वस्तु है। — ज्ञानचंद जैन 'स्वतंत्र'

★ ब्र०पं० माणिकचंदजी भीसीकर, बाहुबली (कुंभोज), संपादक 'सन्मति' (मराठी)

....आपके इस ग्रंथ में धर्मों के लक्षणों का आविष्कार करते समय जिस अनौपचारिक, शुद्ध, तत्त्वनिरूपण पद्धति का अवलम्ब किया गया वह तलस्पर्शी हुआ है। इस परिश्रमसाध्य निरामय पुरुषार्थ की हार्दिक सराहना है। पुस्तक बहुत ही उपयुक्त एवं प्रेरणादायी प्रतीत हुई है। — माणिकचंद भीसीकर

★ डॉ० देवेन्द्रकुमारजी जैन, प्रोफेसर, इन्दौर विश्वविद्यालय, इन्दौर (म० प्र०)

....ये लेख आत्मधर्म के सम्पादकीय में धारावाहिकरूप से प्रकाशित होते रहे हैं, परन्तु उनका एक जगह संकलन कर ट्रस्ट ने बढ़िया काम किया। इससे पाठकों को धर्म के विविध लक्षणों का मनन, एक साथ, एक दूसरे के तारतम्य में करने का अवसर प्राप्त होगा। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि लेखों की भाषा इतनी सरल और सुबोध है कि उससे आम आदमी भी तत्त्व की तह में पहुँच सकता है। डॉ० भारिल्ल ने परम्परागत शैली से हटकर धर्म के क्षमादि लक्षणों का सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इसलिए उनमें धार्मिक नीरसता के बजाय सहज मानवी स्पंदन है........। विश्वास है कि यह पुस्तक लोगों को धर्म की अनुभूति की प्रेरणा देगी। — देवेन्द्रकुमार जैन

★ डॉ० भागचन्द्रजी जैन भास्कर, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर (महाराष्ट्र)

डॉ० भारिल्ल समाज के जाने-माने विद्वान, व्याख्याता हैं। उनकी व्याख्यान-किंवा प्रवचन शैली बड़ी लोकप्रिय हो गई है। वही शैली इस पुस्तक में आद्योपान्त दिखाई देती है। विषय और विवेचन गंभीर होते हुए भी सर्व-साधारण पाठक के लिए ग्राह्य बन गया है। अतः लेखक एवं प्रकाशक दोनों अभिनन्दनीय हैं। — भागचन्द्र जैन भास्कर

★ महामहोपाध्याय डॉ० हरीन्द्रभूषणजी जैन, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल नई पीढ़ी के प्रबुद्ध, मननशील एवं उच्चकोटि के विद्वान हैं।....'धर्म के दशलक्षण' उनकी अपने ढंग की एक सर्वथा नवीन कृति है। डॉ० भारिल्ल ने अपनी इस रचना में अत्यन्त सरल भाषा में जैनधर्म के मौलिक दस आदर्शों का प्राचीन ग्रंथों के उद्धरणों के साथ सोदाहरण विवेचन किया है। दशधर्मों का ऐसा शास्त्रीय निरूपण अभी तक एकत्र

अनुपलब्ध था। पर्यूषण पर्व में व्याख्यान करने वालों को तो यह कृति अत्यन्त सहायक होगी। — हरीन्द्रभूषण जैन

★ डॉ० प्रेमसुमनजी जैन, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज०)

....डॉ० भारिल्ल ने बड़ी रोचक शैली में धर्म के स्वरूप को स्पष्ट किया है। आध्यात्मिक रुचि वाले पाठकों के लिए इस पुस्तक में चिन्तन-मनन की भरपूर सामग्री है। मेरी ओर से डॉ० भारिल्ल को इस सुन्दर एवं सारगर्भित कृति के लिए बधाई प्रेषित करें। — प्रेमसुमन जैन

★ इतिहासरत्न, विद्यावारिधि डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल, जयपुर (राज०)

....दशधर्मों पर डॉ० भारिल्ल सा० के लेखों को पुस्तकरूप में प्रकाशित करके बहुत अच्छा काम किया है। विद्वान् मनीषी ने अपनी सुबोध शैली में दशधर्मों पर सारगर्भित एवं मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं, जिनको पढ़कर प्रत्येक पाठक इन धर्मों के वास्तविक रहस्य को सरलता से जान सकता है तथा उन पर चिन्तन एवं मनन कर सकता है। पुस्तक की छपाई एवं गेट-अप दोनों ही नयनाभिराम हैं। — कस्तूरचन्द कासलीवाल

★ डॉ० ज्योतिप्रसादजी जैन, लखनऊ (उ० प्र०)

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल आध्यात्मिक शैली के प्रतिष्ठित सुचिन्तक, सुवक्ता, सुलेखक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने प्रसादगुण-सम्पन्न शैली में धर्म के उत्तमक्षमादि दश पारम्परिक लक्षणों अथवा आत्मिक गुणों का युक्तियुक्त विवेचन किया है, जो सैद्धान्तिक से अधिक मनोवैज्ञानिक है, और साधक को विभिन्न भूमिकाओं के परिपेक्ष्य में अन्तर एवं बाह्य, निश्चय एवं व्यवहार, विविध दृष्टियों के समावेश के कारण विचारोत्तेजक है; अतः पठनीय एवं मननीय है। — ज्योतिप्रसाद जैन

★ डॉ० राजेन्द्रकुमारजी बंसल, कार्मिक अधिकारी, ओ. पी. मिल्स, शहडोल (म०प्र०)

........लेखक ने आत्मकल्याण-परक पाठकों एवं सत्यान्वेषी जिज्ञासुओं के लिए सारगर्भित, उपयोगी एवं तलस्पर्शी सामग्री प्रस्तुत की है, जिसे पढ़कर पाठक के मन में अज्ञानतायुक्त परम्परागत धार्मिक क्रियाओं की निःसारता स्वतः सहजरूप से प्रकट हो जाती है। लेखक चिन्तनशील पाठक के हृदय को उद्वेलित करने में सफल रहा है। — राजेन्द्रकुमार बंसल

★ डॉ० राजकुमारजी जैन, प्रोफेसर, आगरा कॉलेज, आगरा (उ० प्र०)

डॉ० भारिल्ल ने इस ग्रंथ में धर्म के दशलक्षणों की बड़ी ही वैज्ञानिक एवं हृदयग्राही विवेचना की है। दशलक्षण धर्म पर अध्यात्मचिन्तन-प्रधान एवं मनोरम विवेचना प्रथम बार ही देखने को मिली। ग्रंथ के प्रत्येक पृष्ठ पर

डॉ० भारिल्ल के गहन आत्मचिन्तन एवं उनकी सरस, सुबोध तथा आत्मस्पर्शी शैली के दर्शन होते हैं। निश्चय ही इस ग्रंथ के प्रचार-प्रसार से आत्मरसिकजनों को धर्म के मर्म का सम्यक् बोध होगा और उनमें यथार्थ धर्म-चेतना जागृत होगी। दशलक्षण धर्म पर बड़ी महत्त्वपूर्ण रचना आपने मुमुक्षु जगत् को प्रदान की है। एतदर्थ प्रत्येक अध्यात्मप्रेमी आपका चिरऋणी रहेगा। — राजकुमार जैन

★ **डॉ० नेमीचन्दजी जैन, इन्दौर (म० प्र०), संपादक 'तीर्थंकर' (मासिक)**

अल्बर्ट आइन्स्टीन ने अपने एक लेख "रिलीजन एण्ड साइन्स : इरिकान्सिलेबिल" में लिखा है कि "समाधान को अधिक पेचीदा बनाने वाला तथ्य यह है कि अधिकांश लोग विज्ञान के अर्थ पर तो तुरन्त सहमत हो जाते हैं, किन्तु ये ही लोग धर्म के अर्थ पर एक नहीं हो पाते।" किन्तु जब कोई 'धर्म के दशलक्षण' को आद्यन्त पढ़ जाता है तो उसे आइन्स्टीन की गांठ खोलने में काफी सुविधा होती है। वस्तुतः उसे इस किताब में से धर्मान्धता के बाहर होने की एक तर्कसंगत निसैनी मिल जाती है। श्री कानजी स्वामी ने धर्म को विज्ञान का धरातल दिया है, और प्रस्तुत पुस्तक उसी शृंखला की एक और प्रशस्त कड़ी है। मुझे विश्वास है इसे पूर्वाग्रहों और मतभेदों से हटकर धर्म की एक निष्कलुष, निर्मल, निर्धूम छवि पाने के लिए अवश्य पढ़ा जाएगा। डॉ० भारिल्ल बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने एक सही वक्त पर सही काम किया है। अभी हमें विद्वान् लेखक से लोकचरित्र को ऊँचाइयाँ प्रदान करने वाले अनेकानेक ग्रन्थों की अपेक्षा है। — नेमीचन्द जैन

★ **डॉ० कन्छेदीलालजी जैन, साहित्याचार्य, शहडोल (म०प्र०), सह-सं० 'जैन संदेश'**

पुस्तक में प्रत्येक धर्म के अन्तरंग पक्ष को अच्छी तरह स्पष्ट किया है। छपाई तथा टाइप नयनाभिराम है। मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियाँ न होना भी प्रकाशन की विशेषता है। — कन्छेदीलाल जैन

★ **डॉ० कुलभूषण लोखंडे, सोलापुर (महाराष्ट्र), संपादक 'दिव्यध्वनि' (मासिक)**

अध्यात्म-विद्या के लोकप्रिय प्रवक्ता तथा उच्चकोटि के विद्वान डॉ० हुकमचंद भारिल्ल द्वारा लिखित "धर्म के दशलक्षण" नामक पुस्तक में पर्यूषण में होने वाले उत्तमक्षमादि दशधर्मों के संबंध में मार्मिक विवेचन प्रस्तुत हुआ है। इस ग्रंथ में डॉ० भारिल्लजी ने दशलक्षण महापर्व के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विवरण देकर उत्तमक्षमा से लेकर उत्तमब्रह्मचर्य तथा क्षमावाणी तक का गंभीर एवं तलस्पर्शी विवेचन किया है।......डॉ० भारिल्ल की दृष्टि जैसे पर से स्व तक ले जाने की, विकार से निर्विकार की ओर या विभाव से स्वभाव की ओर ले जाने की सूक्ष्म है, फिर भी सरल है; यह इस ग्रंथ के द्वारा स्पष्ट होता है। हम समझते हैं कि ऐसे मूल्यग्राही व धर्म के अंगों का

सही चिन्तन प्रस्तुत करने वाले ग्रंथ की अतीव आवश्यकता है। वह आवश्यकता डॉ० भारिल्ल ने इस ग्रंथ द्वारा पूर्ण की है। — कुलभूषण लोखंडे

★ **डॉ० नरेन्द्र भानावत, प्राध्यापक, राज० विश्वविद्यालय, सम्पादक 'जिनवाणी'**

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल प्रसिद्ध आध्यात्मिक प्रवक्ता होने के साथ-साथ प्रबुद्ध विचारक, सरस कथाकार और सफल लेखक हैं। उनकी सद्य प्रकाशित पुस्तक 'धर्म के दशलक्षण' एक उल्लेखनीय कृति है। इसमें उत्तमक्षमा-मार्दव आदि दशधर्मों का गूढ़ पर सरस, शास्त्रीय पर जीवन्त, प्रेरक, विवेचन — विश्लेषण हुआ है। लेखक ने धर्म के इन लक्षणों को चित्तवृत्तियों के रूप में प्रस्तुत कर धर्म, मनोविज्ञान और साहित्य का सुन्दर समन्वय किया है। लेखक शास्त्रीय संवेदन के धरातल से प्रेरित होकर अपनी बात अवश्य कहता है, पर वह उसकी रूढ़िवादिता व गतानुगतिकता से ऊपर उठकर धर्म की प्रगतिशीलता एवं मनस्तत्त्वता को रेखांकित करता हुआ उसे शाश्वत जीवनमूल्य के रूप में व्याख्यानित करता है। भारिल्लजी की यह दृष्टि पुस्तक को मूल्यवत्ता प्रदान करती है। हार्दिक बधाई! — नरेन्द्र भानावत

★ **श्री उदयचन्द्रजी जैन, प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ०प्र०)**

....पुस्तक का बाह्य रूप जितना आकर्षक है उसका आभ्यन्तर रूप भी उससे अधिक आकर्षक है। इसमें संदेह नहीं कि पुस्तक अत्यन्त उपयोगी और सारगर्भित है। इसमें धर्म के उत्तमक्षमादि दशलक्षणों का मार्मिक, तात्त्विक और व्यावहारिक विवेचन किया गया है। भाव, भाषा, शैली आदि सभी दृष्टियों से पुस्तक उपादेय तथा पठनीय है। धर्म का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए प्रत्येक श्रावक को इसका अध्ययन, मनन और चिन्तन अवश्य करना चाहिए। डॉ० भारिल्ल उच्चकोटि के लेखक और वक्ता हैं। — उदयचन्द्र जैन

★ **प्रो० प्रवीणचंद्रजी जैन, निदेशक, उच्चस्तरीय अध्ययन अनुसंधान केन्द्र, जयपुर**

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल एक प्रबुद्ध आत्माभिमुख व्यक्तित्व हैं। उनकी वाणी में ओज और शब्दों में ऋजुता है। उनकी लेखनी से प्रसूत 'धर्म के दशलक्षण' नामक कृति इस ओर प्रवृत्त मानवों को तो अज्ञानमूलक रूढ़ियों से हटाकर आत्मविभोर करेगी ही, साधारण-जन भी जिन्हें बहिर्मुख कहा या समझा जाता है यदि इसे एक बार आद्योपान्त पढ़ जाएँ तो निश्चय ही उनकी बहिर्मुखता अन्तर्मुखता की ओर गतिशील हो सकेगी। डॉ० भारिल्ल को इस बहुमूल्य रचना के लिए धन्यवाद अर्पित करते हुए मैं चाहता हूँ कि यह कृति जन-जन के हाथों में पहुँचे और इसके अध्ययन से उनका जीवन सार्थक हो। जब ये लेख 'आत्मधर्म' में प्रकाशित हो रहे थे तो मेरे मन में आता था कि ये लेख पुस्तकाकार में प्रकाशित हो जाएँ। मनचीता हो गया। — प्रवीणचंद्र जैन

★ श्री भरतचक्रवर्ती जैन शास्त्री, न्यायतीर्थ, मद्रास, प्र० सं० 'आत्मधर्म (तमिल)'

………इसमें निश्चय और व्यवहार का सामंजस्य करके दशों धर्मों का वर्णन किया है, जिसकी आवश्यकता वर्तमान समाज के लिए बड़ी जरूरी थी। लेखक महाशय ने अपनी कृति में विस्तृत सरल लौकिक उदाहरणों द्वारा आबाल-गोपाल की शैली में वर्णन कर समाज के सामने एक अमूल्य निधि प्रदान की है, जिसकी प्रतीक्षा समाज लम्बे अरसे से कर रही थी। लौकिक उदाहरण प्रस्तुत कर जटिल विषयों को सरल बनाकर उत्कण्ठासहित पाठकों को साथ ले जाने का जो उपक्रम है, वह मुक्तकण्ठ से प्रशंसनीय है। — भरतचक्रवर्ती शास्त्री

★ पं० अमृतलालजी जैन, साहित्याचार्य, वाराणसी (उ० प्र०)

'धर्म के दशलक्षण' ग्रंथ को मैंने अथ से इति तक शब्दशः ध्यान से पढ़ा, और प्रसन्नता का अनुभव किया। विद्वान् लेखक ने प्रतिपाद्य विषय की संपुष्टि के लिए यत्र-तत्र-सर्वत्र आगम के प्रमाण देकर प्रस्तुत ग्रंथ को प्रामाणिक बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। बीच-बीच में सुन्दर युक्तियों एवं उदाहरणों के देने से प्रस्तुत ग्रंथ और भी आकर्षक हो गया है। बोधगम्य, सरल एवं सरस हिन्दी माध्यम से लिखा गया यह ग्रंथ साधारण पाठक को भी आसानी से समझ में आ जाएगा। ऐसे ग्रंथ के प्रणयन के लिए प्रणेता डॉ० भारिल्ल, जो प्रखरवक्ता, सिद्धहस्तलेखक एवं कुशल अध्यापक हैं; धन्यवाद एवं बधाई के पात्र हैं, और प्रकाशन संस्था भी। — अमृतलाल जैन

★ राजस्थान पत्रिका (इतवारी पत्रिका), दैनिक, जयपुर, ३ दिसम्बर १९७८

………डॉ० हुकमचंद भारिल्ल ने पर्व के महत्त्व को मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से छूते हुए भाद्र मास में जैन समाज द्वारा दशलक्षण पर्व के वास्तविक स्वरूप को पहिचानने की ओर इंगित किया है।………जैन शास्त्रों के व्याख्याता, दार्शनिक विचारक डॉ० हुकमचंद भारिल्ल द्वारा लिखी गई यह पुस्तक पठनीय, मननीय एवं धारण करने लायक है। — बिशनसिंह शेखावत

★ वीर (पाक्षिक), मेरठ, दिनांक १ जनवरी, १९७९

यह एक ऐसी अनुपम कृति है जिसका स्वाध्याय करके प्रत्येक व्यक्ति सहज ही आत्म-कल्याण के मार्ग पर चलने की प्रेरणा पाता है। श्रद्धेय डॉक्टर साहब ने दसधर्मों का स्वरूप बहुत विस्तार से, सरल भाषा में प्रस्तुत करके महान उपकार किया है। पुस्तक अनेक ग्रंथियों को खोलने तथा धर्म के नाम पर अज्ञानतारूपी अंधकार को नष्ट करने में सहायक है। एक तरफ जहाँ हमने धर्म को संकीर्णता के दायरे में जकड़ रखा है, डॉक्टर साहब ने उससे ऊपर उठकर उसे जन-जन के हृदय तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। डॉ० भारिल्ल ने इस प्रकार विश्लेषण किया है कि पुस्तक एक बार हाथ में लेकर उसे छोड़ने

को मन ही नहीं करता । डॉ० भारिल्ल एक मर्मज्ञ विद्वान् हैं । उन्होंने इस ग्रंथ की रचना करके मानव समाज पर महान उपकार किया है । – राजेन्द्रकुमार जैन

★ वीरवाणी (पाक्षिक), जयपुर, ३ दिसम्बर १९७८, वर्ष ३१, अंक ४–५

"""डॉ० भारिल्ल ने सरल व रुचिकर भाषा में धर्म के इन लक्षणों का बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। दृष्टान्त द्वारा तत्त्व को समझाना उनकी अपनी विशेषता है जो इस पुस्तक में सर्वत्र देखी जाती है।""क्षमा-मार्दव आदि सभी विषयों में पूजा की पंक्तियों को लेकर पाठक को खूब समझाया है।""यह नवीन शैली की कृति अपनी विशेषता रखती है। पाठक इससे अवश्य लाभान्वित होंगे। क्षमावाणी पर अच्छा लिखा है। – भँवरलाल न्यायतीर्थ

★ जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक), विदिशा, १६ नवम्बर १९७८, वर्ष २, अंक ३६

समाज के जाने-पहिचाने प्रसिद्ध विचारक दार्शनिक विद्वान् डॉक्टर हुकमचंद भारिल्ल की यह कृति विषयवस्तु, भाव, भाषा, शैली आदि सभी दृष्टियों से परिपक्व एवं अत्यन्त उपयोगी है। यद्यपि इसकी विषयवस्तु परम्परागत ही है तथापि विषय-विवेचन एवं प्रतिपादन-शैली से वह एकदम नये रूप में प्रस्तुत हुई है।""इन निबन्धों को पढ़कर हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध निबंधकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मनोविकारों पर लिखे गये निबन्धों की याद ताजी हो उठती है। क्षमावाणी का निबन्ध तो अपने ढंग का बिलकुल ही अनूठा है, इसे अद्वितीय भी कहा जा सकता है। – रतनचंद भारिल्ल

★ सन्मति-वाणी (मासिक), इन्दौर, दिसम्बर १९७८, वर्ष ८, अंक ६

प्रशिक्षण शिविर और दशलक्षण पर्व के अवसरों पर प्रभावक वक्ता और लेखक डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल द्वारा दिये गये विशेष व्याख्यानों का यह सुन्दर संग्रह सभी के लिये उपयोगी है। यह दशलक्षण सम्बन्धी आध्यात्मिक प्रवचन अन्य प्रवचनकारों के लिये मार्गदर्शन-स्वरूप हैं। डॉ० भारिल्ल की प्रवचन शैली आकर्षक होने से आज इन विषयों का विशेष महत्त्व है। – नाथूलाल शास्त्री

★ सन्मति संदेश (मासिक), दिल्ली, जनवरी १९७९

दशलक्षण धर्मों के चिन्तनीय स्वरूप को आत्मधर्म में आद्योपान्त पढ़कर मेरी भी यही भावना थी कि यदि ये पुस्तकाकार प्रकाशित हो जावें तो जिज्ञासु जीवों को धर्म का मर्म समझने में अत्यधिक प्रेरणा मिलेगी।""इसमें दशधर्मों पर सरल-सुबोध भाषा में प्रकाश डाला है, धर्म के अन्तःस्वरूप का आगम और तर्क के परिपेक्ष्य में हृदयस्पर्शी, मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। डॉ० भारिल्ल धर्म के स्वरूप को बड़ी सूक्ष्मदृष्टि और तर्क की कसौटी पर कसकर मननीय बना देते हैं, साथ में रोचकता भी बनी रहती है। – प्रकाशचंद 'हितैषी'